प्रो. निर्मलचन्द्र

एकत्व दर्शन

बीज मन्त्र

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

(ईशोपनिषद् ७)

जिस स्थिति में सम्पूर्ण प्राणी एकमात्र आत्मा ही हो चुकते हैं, उस अवस्था में एकता का निरन्तर साक्षात् करने वाले पुरुष के लिए कौन-सा मोह, कौन-सा शोक ?

आमुख

मानव को भी पशुओं के समान स्वरक्षा के लिए संग्राम करना पड़ता है, किन्तु जहां निम्न श्रेणी के प्राणी अचेत अवस्था में सहज बुद्धि से जीवन संग्राम करते हैं, वहां मानव अपनी बुद्धि द्वारा अपनी परिस्थिति तथा अपने संग्राम का अर्थ जानता हुआ सफलता के साधन सोचता है और कई प्रकार के यन्त्र निर्माण करता है।

मानव को अचेनता अभीष्ट नहीं है, वह अपने अज्ञान की स्वीकृति में लज्जित होता है और अपने आप तथा परिस्थिति के ज्ञानालोक में जीना चाहता है, वह अपने कर्मों के निकट परिणाम देखने के स्थान में उनके दूर के फलों को देख पाता है। मानव सत्ता में जानने, समझने और सोचने की इच्छा उसकी बौद्धिक शक्ति का फल है और दर्शन-शास्त्र इस इच्छा की पूर्ति करता है।

हम अपने दर्शन के अनुसार ही जिया करते हैं। यह बात अचिन्तक लोगों पर भो लागू होती है, क्योंकि मानव सोचे बिना जीवित नहीं रह सकता।

संसार में अनेक दर्शन पद्धतिया हैं और नई से नई जन्म ले रही हैं, किन्तु संसार की साधारण दशा बतला रही है कि अभी तक मानव जीवनालोक नही पा सका, अन्यथा इसका जीवन चिन्मय तथा दिव्य होता और वह अपने आप मे तथा इसी लोक में ही जीवनानन्द पाता हुआ अपने से बाहिर, मरणपश्चात् तथा किसी अन्य लोक में ईश्वर, मुक्ति व स्वर्ग में जा बसने की इच्छा ही न रखता।

स्वस्थ जीवन की कसौटी यही है कि इसकी गम्भीरतम आशाएँ, आकांक्षाएँ अब और यहीं पूरी हो जाएँ और हम अपने से बाहिर आनन्द ढूँढने के स्थान में स्वयं आनन्द-वितरण के केन्द्र हो जाएँ।

किन्तु मानव असन्तुष्ट, अशान्त तथा दुःखी होता हुआ दुःख-निवृत्ति तथा सुख-प्राप्ति के लिए समस्त जीवन के विरुद्ध संग्राम करने में लगा हुआ है। वह ममता रहित प्रेम तथा संवेदना पूर्ण सहकारिता को जानता ही नहीं। उसकी दृष्टि जीवन-पूर्णता के स्थान में व्यावहारिक सफलता पर लग रही है। उसकी ऊपर की शान्ति भी दबे तथा छिपे हुए परस्पर संग्राम से इतर कुछ नहीं है और भय तथा चिन्ता उसके सिर पर सवार हो रहे हैं। यही कारण है कि वह अपनी परिस्थिति तथा अपने आप से विरक्त होकर या तो भोग-विलास में डूबना चाहता है या कल्पित लोकों के स्वप्नों में निमग्न रहना पसन्द करता है। यह वैराग्य तथा पलायन स्पष्टतः बतला रहे हैं कि मानव अभी तक जीवनानन्द पाने में असफल हो रहा है।

मानव की उग्रतम आवश्यकता जीवन-दर्शन है और वह एकत्व दर्शन है जिसके विषय में उपनिषत्कार ऋषि यह कहता है—

> यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
> तत्र कः मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।। (ईश)

"जिस अवस्था में (परम तत्त्व को) जानने वाले की दृष्टि में सम्पूर्ण प्राणी आत्मा (अपना आप) हो जाते हैं, तब एकता का निरन्तर साक्षात् दर्शन करने वाले पुरुष के लिए कौन-सा मोह रह जाता है और कौन-सा शोक ?"

कोई भी दर्शन सम्पूर्ण एकता पर पहुँचे बिना अपूर्ण ही रहता है। एकत्व दर्शन होने पर सभी समस्याओं का समाधान, मीमांसा तथा सब संशय एवं द्वैध दूर होकर हृदयग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, जीवन

सुन्दर तथा आनन्दमय होकर संघर्ष तथा रव-सामंजस्य एवं संगीत में परिणत हो जाते हैं।

यह एकत्व दर्शन वर्तमान काल की रचना होने के स्थान में पुरातनतम आविष्कार है तथा समस्त संसार के लिए यदि कोई भारत की अत्यन्त मूल्यवान् देन है तो यही है। किन्तु बड़े आश्चर्य तथा शोक की बात है कि स्वयं भारतवासी लोग भी इसे अपना नहीं रहे, अन्य देशों को देना तो दूर रहा।

इस दर्शन की भित्ति पर्यवेक्षण, बाह्य प्रयोग तथा बौद्धिक तर्क-वितर्क के स्थान में आत्मज्ञान तथा अपरोक्षानुभूति पर है। प्रकृति का अध्ययन इस परम सत्य की ओर संकेत तो देता है किन्तु इसका यथार्थ अनुभव अपने आप में ही हो सकता है। हमारे भीतर का 'एक' ही तो विश्व जगत् का 'एक' है. इसलिए अपने अन्दर के 'एक' को जान लेने पर वस्तुतः सभी कुछ जाना जाता है। और द्वैत-भ्रम मिटने पर ही यथार्थ मानवता का आरम्भ होता है।

अब संसार में विद्या का कोई अन्त दिखाई नहीं देता। किन्तु मूल अविद्या वैसी की वैसी ही मौजूद है और जब तक इसका निराकरण न हो, मानव समस्याओं का संतोषजनक समाधान न हो पाएगा। इस मूल अविद्या की निवृत्ति पर न केवल मानव व्यक्तित्व अपनी पूर्णता प्राप्त कर सकेगा, अपितु मानव जाति इसी पृथिवी पर ही स्वर्ग-निर्माण कर पाएगी तथा वर्तमान जीवन ही मुक्तिमय हो जाएगा।

एकत्व-दर्शन किसी धर्मसम्प्रदाय का विशेष सिद्धान्त होने के स्थान में 'जीवन ज्योति' है जो सर्व-देश, सर्व-काल तथा सर्व-मानव के लिए है। इस ज्योति को अन्धानुसरण के स्थान में तीव्र जिज्ञासा से पाना सम्भव है। अन्धानुसरण ससीम रूप में एकता उत्पन्न करता हुआ भी विभाजनकारी ही होता है। केवल निष्पक्ष अनुसन्धान ही सभी व्यक्तियों तथा जातियों में एकता स्थापन कर सकता है।

यदि मानव-जगत् एकता के आलोक से आलोकित होता, तब विज्ञान भी विनाशकारी रूप में प्रयुक्त होने के स्थान में संसार की रचनात्मक सेवा करता हुआ एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वरदान सिद्ध होता और सभी लोग प्रतियोगिता के स्थान में सर्वोदय के लिए सहकारी हो पाते।

एकत्व-दर्शन उस ज्योति की कतिपय किरणें भेंट करता है जिसके लिए संसार तड़प रहा है। इसका ध्येय सर्वसाधारण को ज्ञान देने के स्थान में ज्योति का वह उद्गम स्थान दिखाना है जो प्रत्येक मानव के भीतर विद्यमान होता हुआ केवल उसके अवधान की प्रतीक्षा कर रहा है।

कोर्ट रोड,
होशिआरपुर

—निर्मलचन्द्र

विषय-सूची

१. एक मौलिक प्रश्न

जीवन के सम्बन्ध में एक मौलिक तथा चूड़ान्त प्रश्न यह है कि जीवन जीने के योग्य भी है या नहीं ?

इस प्रश्न का उत्तर हमारे दर्शन का मूल्यांकन करता है। यदि हम जीवन को जीने के योग्य समझते हैं, तब तो हमें जीने के लिए वह दर्शन अपेक्षित होगा, जो हमें जीवन ज्ञान देता हो और यदि हम जीवन को जीने योग्य न समझते हुए जीने के दिन काटना चाहते हों, तब हमें ऐसा दर्शन अपेक्षित होगा, जो जीवन को भुलाने तथा समाप्त करने में सहायक हो सके।

भारत में ऐसे चिन्तकों तथा ज्ञानियों की कमी नहीं है जो जीवन का कोई अर्थ व मूल्य न देखते हुए संसार से सदा विरक्त तथा उदासीन रहना चाहते हैं। अत:, जीवन का अर्थ हमारा और संसार का सम्बन्ध है। इसलिए वह जीवन को कल्पना तथा स्वप्नमय सिद्ध करने के लिए जगत् को झूठा तथा प्रतीतिमात्र बतलाया करते हैं। क्योंकि उन्हें जीवन एक प्रकार का कारावास प्रतीत होता है, जिसमें वह किसी प्रकार व किसी कारण से फँस गए हैं और जिससे छुटकारा पाने के अतिरिक्त वह जीवन का कोई अर्थ देख नहीं पाते। दूसरे शब्दों में वह स्वयं जीवन का ही समूल उत्पाटन करना चाहते हैं और चूंकि इस विचारधारा के लोग वास्तविकता में कोई आस्था नहीं रखते, वह इसे भुलाकर काल्पनिक लोकों में भ्रमण करके दिल बहलाया करते हैं।

इसके विपरीत जो लोग जीवन में अर्थ को देखते हुए इससे अनुरक्त होते हैं, वे इसकी पूर्णता के लिए जिया करते हैं और उनका दर्शन भी जीवन का महत्त्व तथा मूल्य प्रदर्शन करने वाला होता है। वे जीवन-समस्याओं का साहसपूर्वक सामना करते हुए इनसे भागने के स्थान में इनके समाधान में तत्पर रहते हैं। उन्हें जीवन एक अमूल्य वर तथा उपहार प्रतीत होता है और वे इसे निरन्तर भद्रतर तथा प्रसन्नतर बनाने में जुटे रहते हैं और वे समाज तथा किसी प्रकार के संकटों से दूर रहने का प्रयत्न नहीं करते। जीवन के सम्बन्ध में यही विध्यात्मक दृष्टिकोण है।

इसके विरुद्ध यदि हम निषेधात्मक दृष्टिकोण के परिणामों को विस्तृत पैमाने पर देखना चाहें तो भारत ही हमारे और समस्त विश्व के लिए एक शिक्षाप्रद उदाहरण पेश करता है। यहाँ शताब्दियों से जगन्मिथ्या की घोषणा द्वारा जीवन से वैराग्य तथा उदासीनता फैलाने का यह परिणाम हुआ है कि आज भारत विश्व संसार में दारिद्रय तथा असुख में अपना समकक्ष नहीं रखता। यहां तो घर-घर में जगम्मिथ्या की रट लगाई जा रही है और गली-गली में उदासीनता तथा निराशा भरे गीत गाए जा रहे हैं और सत्संग तथा साधना के नाम पर यही विचारधारा बह रही है कि किस प्रकार जीवन का समूल उन्मूलन किया जाए।

आज भारत को पुनर्जीवित करने और इसी परिवर्तनशील संसार को ही स्वर्गमय तथा जीवन को दिव्य तथा चिन्मय बनाने के लिए वह विध्यात्मिक दृष्टिकोण अपेक्षित है जो वास्तविकता की अनुभूति जागृत करता हुआ न केवल जीवन-रुचि उत्पन्न करे, अपितु हमें अपनी दशा तथा परिस्थिति के

लिए उत्तरदायी बनाए, जीवन से पलायन के स्थान में जीवन की सफलता की उमंग उभारे, इन्द्रिय को तीव्रता तथा सूक्ष्मता, मस्तिष्क को स्वच्छता तथा अन्तर्दृष्टि, हृदय को अनुराग तथा उत्साह और इच्छाशक्ति को दृढ़ता प्रदान करता हुआ जीवन को निद्रा तथा जड़ता से जागृति तथा चैतन्य की ओर ले जाता हो।

अब तो हमें वह जीवन-दर्शन अपेक्षित है, जिसका विवेच्य विषय विश्वातीत होने के स्थान में स्वयं जीवन तत्त्व हो, जो जीवन का अर्थ बतलाता हुआ हमें कलात्मिक रूप से जीना सिखाने वाला तथा अतीत के अनुसरण की अपेक्षा हमें वर्तमान में ही भविष्य-रचना का सन्देश देने वाला हो।

हमें तो उस जीवन-दर्शन की अत्यावश्यकता है, जो जीवन की व्यापक तथा अमिट उमंगों को इसी पृथिवी पर ही पूरा करे, जिस पर और जिससे उसका जन्म हुआ है और मानवता को पूर्णता की ओर प्रगतिशील करता हुआ जीवन से मुक्ति के स्थान में जीवन की असीम सामर्थ्य को व्यक्त करने का प्रभाव रखता हो।

इस परमावश्यक दर्शन का मौलिक सिद्धान्त यही होगा कि '**जीवन जीने के योग्य है**" तथा इसे काटने, भुलाने तथा सुलाने के स्थान में इसे समझने, समझाने, जगाने और पूर्ण अभिरुचि तथा अनुराग से यापन करना होगा।

---

२. वर्तमान युग की आत्मा

वर्तमान युग के सम्बन्ध में विभिन्न धारणाएँ पाई जाती हैं। कई लोग इसे आलोक-युग का नाम देते हैं और कई इसमें घोर भौतिकता के नित्य वर्धमान अन्धकार के सिवा कुछ देख नहीं पाते। कोई तो इस युग को आत्मोत्सर्ग का समय बतलाता है और कोई इसमें यत्र, तत्र, सर्वत्र स्वार्थपरता ही देखता है। किसी को तो उज्ज्वल भविष्य दृष्टिगोचर होता है और कई एक को भयानक भविष्य घूरता हुआ दीख पड़ता है।

कुछ ही हो, यह एक निर्विवाद तथ्य है कि वर्तमान युग हलचल, उथलपुथल, संघर्ष, अशान्ति और बेचैनी का युग है। प्रतिक्षण विश्वयुद्ध की ज्वाला भड़क उठने की आशंका है। विरोधी विचार, साम्प्रदायिक पक्षपात तथा राष्ट्रीय झगड़े फैल रहे हैं। वायुमण्डल भय तथा सन्देह से भरपूर है। परस्पर अविश्वास तथा तनातनी की वृद्धि हो रही है। विज्ञान ही सर्वनाश का यन्त्र बनता दिखाई देता है। तथा-कथित धर्म भी स्वार्थपरता तथा आत्म-स्फीति को बढ़ावा दे रहा है और समस्त मानव जाति एक अथाह गढ़े के किनारे पर खड़ी है।

किन्तु इस युग की सबसे बड़ी विशेषता जो प्रत्येक जीवन-शाखा में देखी जाती है, विद्रोह है। यह विद्रोह पुरातन परम्पराओं के विरुद्ध हृदयों और मस्तिष्कों में उठ रहा है और इस विद्रोह का कारण वे नवीन विचार तथा विश्वास

हैं, जो नवजागरण की आत्मा से सक्रिय हो चले हैं और जो किसी प्रकार तथा किसी भी शक्ति से दबाये नहीं जा सकते, अपितु वे तो किसी दबाने वाली शक्ति को भी चूसकर और भी शक्तिमान् होने की प्रवणता रखते हुए हमारे सन्मुख मानव जगत् में महान् परिवर्तन ला रहे हैं और इन्हीं नवीन विचारों के फलस्वरूप हमारे सामने ऐसी नवीन समस्याएँ प्रस्तुत हो गई हैं, जिनका समाधान किए बिना हम जीवित नहीं रह सकते। अतः, इनका सामना करना ही होगा और जितना शीघ्र किया जायगा, उतना ही अच्छा होगा।

यहां पर यह प्रश्न उठता है कि इन नवीन समस्याओं के समाधान का आलोक कहां से आयगा ? क्या अतीत काल से ? कभी नहीं। क्योंकि अतीत काल में केवल उन्हीं समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया था, जो तत्काल सामने प्रस्तुत थीं। क्या आकाश-वाणी से ? कदापि नहीं। क्योंकि जीवनालोक स्वयं जीवन में ही विद्यमान होता है। जहां से प्रश्न उठते हैं वहीं उत्तरों का उद्गम स्थान है। प्रश्न पार्थिव और उत्तर आकाशी नहीं हुआ करते। अतः, सभी समस्याएँ स्वयं हमें ही सुलझानी होंगी। कठिनाइयों पर स्वयं विजय प्राप्त करनी होगी। स्वयं ही जीवन-सागर से तैर कर पार होना होगा। केवल आत्मकृपा द्वारा ही अपना उद्धार हो सकता है।

मानव जगत् में युद्ध एक घृणित तथा सर्वनाशक बुराई है। किन्तु बुराई के भीतर ही भलाई के बीज उसी प्रकार ही पाये जाते हैं जिस प्रकार के प्रत्येक झूठ तथा भ्रम के भीतर भी कोई न कोई सत्य व तथ्य विद्यमान हुआ करता है।

गत महान् विश्व-युद्धों ने मानव की कई नवीन तथा महान् शक्तियां जगा दी हैं जो अब तक सोई चली आती थीं और जो अब संसार को बदले बिना नहीं रहेंगी। वाष्प, विद्युत्, पैटरोल की शक्तियां संसार में अपूर्व परिवर्तन ला चुकी हैं। अब रेडियो ने समस्त संसार को एक जीवित पिण्ड में बदल डाला है और आणविक शक्ति ने तो मनुष्य को गुरुत्वाकर्षण से मुक्त करके विश्ववासी बना दिया है। देश-काल मानो उड़ ही चुके हैं और मानव विश्व जगत् पर अपना आधिपत्य स्थापन करने को बढ़ता चला जा रहा है।

राजनैतिक दृष्टि से देखें, तो दासता के बन्धन तोड़े जा रहे हैं। उपनिवेश बाद के दिन गिनती के हैं। प्रत्येक व्यक्ति स्वातन्त्र्य को अपनाकर अनन्य प्रेरणीय अधिकार निश्चय करता है। राजाओं के लिए अब कोई भविष्य नहीं रहा। कोई भी व्यक्ति व जाति अपने को दीन-हीन मानने को तय्यार नहीं है। प्रत्येक हृदय में आत्मसम्मान तथा आत्मनिर्णय की उमंगें मौजूद हैं। अब किसी भी जाति को चुनी हुई नहीं मान सकते। साम्राज्यवाद किसी को अभीष्ट नहीं है, यहां तक कि मानव प्रकृति पर अपना शासन जमाता हुआ अपने को ही अपना भाग्य निर्माता समझने लगा है और गणराज्य को ही सर्वोत्कृष्ट राज्य-व्यवस्था माना जाता है। कभी दूसरों पर शासन उच्चता का चिह्न था, किन्तु अब यह मानवता की निचाई का माप हो चला है और अब आत्मनिर्णय को मानव का जन्मजात अधिकार माना जाता है।

आर्थिक दृष्टि से अब यह जागृति आने लगी है कि अत्युग्र प्रतियोगिता तथा परस्पर शत्रुता और वैर जो युद्ध का रूप

धारण करते हुए अनगिनत स्त्री-पुरुष तथा बच्चों की भुखमरी तथा हत्या के कारण होते हैं, वस्तुतः आर्थिक दुर्व्यवस्था से ही उत्पन्न होते हैं। ये संसार में न रहेंगे जब हम सामूहिक जीवन को मानवोचित रूप से संगठित कर पाएँगे और जब मानव सम्बन्ध परस्पर ईर्ष्या, द्वेष के स्थान में सहकारिता और प्रेम में रूपान्तरित हो जाएगा और जब श्रम तथा उत्पादन को शक्ति के स्थान में न्यायतः बांटा जाएगा।

संसार भर के श्रमिक समझने लगे हैं कि उनका दारिद्र्य हमारी अपनी रचना है और इसे दूर किया जा सकता है। अब वह अपने दारिद्र्य को अदृष्ट व पिछले कर्मों से आरोप करने के स्थान में स्वार्थपरक पूंजीवाद के अत्याचार को उत्तरदायी जानते हैं और इसलिए वे अब अपनी निर्धनता में सन्तुष्ट नहीं रह सकते। वे अपने जीवन की आवश्यकताओं को अपना जन्मसिद्ध अधिकार निश्चय करते हुए इसके संरक्षण के लिए हिंसा को भी अनुचित नहीं समझते। अब तो कोई शक्ति भी इन्हें सदा के लिए दरिद्र न रख सकेगी।

धर्म भी जो अपने स्वर्गीय जन्म का दावेदार चला आता है, अब युगात्मा से अप्रभावित नहीं रह सकेगा। मन्दिरों और गिरजों में हाजरी घटती चली जा रही है और धर्मसम्प्रदाओं के मैम्बरों का उत्साह भी कम हो रहा है। साधारण मानव धर्म की मान्यताओं में उलझना पसन्द नहीं करता, क्योंकि वह देखता है कि धर्म के नेता संसार में युद्ध को समाप्त करने के स्थान में इसके एजेण्ट बन रहे हैं। वे मुख से मानव बन्धुता का उपदेश देते हुए भी व्यवहारतः द्वेष फैला रहे हैं। इस पृथिवी पर ही स्वर्ग-निर्माण के स्थान में आकाश में स्वर्ग के चित्र उपस्थित करते हैं। वे प्रत्येक नवीन विचार व सुधार के

पक्के वैरी होते हैं, एवं संसार से दारिद्रय का शाप मिटाने का कोई कार्यक्रम नहीं रखते। संक्षेपतः, वे नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से दिवालिये सिद्ध हो चुके हैं।

अब लोग स्पष्टतः देखने लगे हैं कि वह धर्मसम्प्रदाय कोई भविष्य नहीं रखता जो—

(क) आध्यात्मिकता की संकीर्ण देशभक्ति पर सीमित करता है।

(ख) जिसके सिद्धान्त केवल अतीत से ही सम्बद्ध हैं।

(ग) जिसकी व्यवस्था लोकतन्त्र के विरुद्ध है।

(घ) जो साम्प्रदायिक दृष्टि रखता है।

(ङ) जो कोई सामाजिक लक्ष्य नहीं रखता।

(च) जिसमें क्रान्ति का भाव ही नहीं है।

(छ) जो केवल व्यक्तिगत मोक्ष की ही आशा दिलाता है।

विज्ञान पर भी युग की आत्मा अपना प्रभाव दिखाने लगी है। अब भौतिकता के विरुद्ध विद्रोह होने लगा है और यह भौतिक सिद्धान्त कि संसार एक प्रकाण्ड मशीन है। डगमगाने लगा है और केवल ऐहिक अनुसन्धान में ही लगे रहने के स्थान में अब मानव का यह सहज विश्वास फिर से होने लगा है कि—

(क) मानव एक आध्यात्मिक सत्ता है।

(ख) वह केवल खा-पीकर जीवित नहीं रह सकता।

(ग) मानव जीवन अत्यन्त पुण्य अर्थ रखता है और केवल परमाणुओं के आकस्मिक संयोग का परिणाम मात्र नहीं है।

(घ) अपनी केन्द्रीय सत्ता में स्वतन्त्र कर्ता है और इसका जीवन अभौतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए है।

नीति में भी क्रान्ति आ रही है। अब उस व्यक्तिगत प्रथानुरूप नैतिकता को पसन्द नहीं किया जाता जो मानव को अच्छे भावों का बण्डल बना दे। अब नीति को सामूहिक जीवन का नियम माना जा रहा है और अन्तर्राष्ट्रीय नीति की आवश्यकता को सदा वर्द्धमान उग्रता के साथ अनुभव किया जाने लगा है जिसके बिना केवल वैयक्तिक व राष्ट्रीय नीति मृतप्राय है, अपितु अनीति मात्र है। अब नीति की पुरातन तथा प्रत्यादेशिक नींवें हिल चुकी हैं और यह बात समझ में आने लगी है कि नीति की नींव स्वयं मानव स्वभाव तथा व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्ध पर होनी चाहिए।

यह विद्रोह किसके विरुद्ध उठ रहा है? यह विद्रोह मानव संस्थाओं के विरुद्ध प्रतीत होता हुआ भी हमारे अपने भीतर और हमारे विरुद्ध है। जिसे हम युग कहते हैं, वह हमारी ही आन्तरिक दशा का बाह्य प्रतिबम्ब ही तो है।

अतः युग-परिवर्तन के साथ-साथ में हमें अपने को ही बदलना होगा। भद्रतर संसार को मूर्तिमान् करने के लिए हमें स्वयं भद्रतर व्यक्ति बनना होगा। केवल बाह्य सुधार ऊपरी और इसलिए अस्थायी होगा। यदि हमारा जगत् खराब है तो इसके लिए हम ही वैयक्तिक तथा सामूहिक रूप से उत्तरदायी हैं, न कि आकाश के तारे।

हमें अपनी समस्याओं का केवल वैयक्तिक रूप में ही नहीं, अपितु सामूहिक रूप में समाधान करना होगा। मानव जीवन की साधारण समस्याएँ मानवता के सम्बन्ध में ही सन्तोष-

जनक रीति से हल की जा सकती हैं। अब तक हम इन समस्याओं को एक दूसरी से अलग जानकर केवल वैयक्तिक तथा राष्ट्रीय दृष्टि से इनके समान समाधान की चेष्टा करते आए हैं।

हम सभी एक जीवन्त समग्र से सम्बद्ध हैं। हमारा भीतरी केन्द्र एक है और एक दूसरे के अंग हैं। हमारा उत्थान व पतन, मोक्ष व बन्धन, भलाई व बुराई, स्वास्थ्य व अस्वास्थ्य—हमारी सम्मिलित समस्याएँ हैं, जो परस्पर सहकारिता द्वारा ही हल की जा सकती हैं।

अतः, हमें जीवन-परिज्ञान की वृद्धि द्वारा विश्वव्यापी विद्रोह के कारणों को यथार्थ रूप से जानना होगा। तभी इस पृथिवी पर ही स्वर्गनिर्माण सम्भव हो सकेगा।

---

३. विश्वव्यापी विद्रोह के कारण

यह एक नियम है कि बाल्यावस्था की पोशाक यौवन में फिट नहीं आ सकती, इसी प्रकार मानव जगत् जो सदैव बदलता जा रहा है, उसके अतीत काल की रीति-नीति तथा नियम वर्तमान के लिए उपयुक्त नहीं हो सकते।

वस्त्रों के समान ही वे सभी संस्थाएँ, व्यवस्थाएँ, नियम, प्रथाएँ, मान्यताएं तथा आदर्श जो कभी मानव ने स्वीकार कर रखे थे, अब अवश्य ही उन्हें छोड़कर अपने लिए वर्तमानानुकूल नई पोशाकें तय्यार करनी होंगी।

एक समय आ जाता है जबकि उपयुक्त वस्त्र भी नाकारा हो जाते हैं। पुरानी पोशाकों को ही पवित्र मानकर उनसे चिमटे रहना न केवल व्यर्थ है अपितु अत्यन्त अहितकर है।

जीवन के सभी रूप केवल इस शर्त पर स्थायी रह सकते हैं कि वे परिस्थिति के अनुकूल हों। अतः, परिस्थिति सदा बदलती रहती है, जन्तु इसके अनुकूल बदलना नहीं जानते। वे नष्ट हो जाते हैं। कभी इसी पृथिवी पर महाकाय रींगने वाले जीव पाये जाते थे, जो परिस्थिति के साथ-साथ न बदलने के कारण समाप्त हो गए।

वैसे तो क्रम-विकास के नियमानुसार सृष्टि सदा बदला करती है, किन्तु अब विकास की गति उत्तरोत्तर तेज़ होती जा रही है। जिस प्रकार भयानक स्वप्न निद्रा भंग कर देता है, इसी प्रकार विगत महायुद्धों के अत्यन्त भयंकर दृश्यों ने लोगों में नवीन जागृति उत्पन्न कर दी है और अब वे समझने लगे हैं

कि संसार में उनकी क्या स्थिति, अधिकार तथा सामर्थ्य है। अब वे जड़वत् सहमान अनुवर्तन नहीं कर सकते। उनमें आत्मचेतना बढ़ गई है और उनके भीतरी बन्धन कट चुके है।

अब हमारे लिए यह बात सम्भव ही नहीं रही कि हम वर्तमान आर्थिक तथा राजनैतिक संस्थाओं, धर्मसम्प्रदाओं तथा दर्शनों पर सन्तुष्ट रह सकें। जो नवीन विचार उत्पन्न हो चुके है वे संसार को बदले बिना न रहेंगे। क्योंकि संसार में विचार ही सबसे बड़ी शक्ति है और सभी पदार्थ नश्वर हैं, मिटाये जा सकते हैं, किन्तु विचार अमरजीवी हैं।

और मानवसत्ता की महानता तो इसी में है कि वर्तमान स्थिति में जैसी कि वह है, सन्तुष्ट न रहे। यदि ऐसा न होता तो मानव की प्रगति रुक जाती। यह एक जीवन का नियम है कि जब किसी जीवित सत्ता की प्रगति रुक जाती है, तब अनिवार्य रूप से उसका पतन आरम्भ हो जाता है। जीवन स्थिरता को जानता ही नहीं, यदि वह आगे को बढ़ न पाए तो पीछे को हटने लगता है।

असन्तुष्ट तथा अशान्त रहना मानव का निज स्वभाव है और इसकी यह अशान्ति इसकी दिव्यता की द्योतक है, जो बतला रही है कि मानव अपने रूप में कितना ही क्षुद्र दिखाई देता हुआ भी अपने स्वरूप में असीम तथा अगाध है और यही कारण है कि वह किसी भी सीमा में सन्तुष्ट नहीं रह पाता।

मानव अपनी सत्ता में तो अनन्त है ही, किन्तु उसका जीवन निरन्तर प्रगतिशील रहने में है। इसी प्रकार ही उस

की स्वाभाविक असीमता अभिव्यक्त होती है। प्राप्ति सदा ससीम होती है और इसलिए मांग आकांक्षा की अपेक्षा बहु-मूल्यवान् है।

सूर्य की प्रचण्ड ज्वाला में से पृथिवी रूपी चिंगारी का अलग होना, फिर इसका उत्तरोत्तर वाष्पीय अवस्था से तरल और फिर ठोस अवस्था में आना, इस पर सागरों तथा पर्वतों की उत्पत्ति, हिम तथा जल के विप्लव, गड़गड़ाती नदियों का पर्वतों से अपना रास्ता काटना, वनों का पृथिवी में दबना, जीवन का प्रथम जल में व्यक्त होकर फिर थल पर फैल जाना और वायु में उड़ना, अनेक प्रकार के संख्यातीत पौधों, वृक्षों, कीट-पतंगों, पक्षियों, स्तन्यपायी जन्तुओं की उत्पत्ति इतिहास में निस्सन्देह महान् घटनाएँ हैं। किन्तु इन सबसे महत्तर घटना मानव का प्रादुर्भाव है।

किसे ख्याल आ सकता था, कि यह सीधा खड़ा होने वाला, आगे-पीछे देखने वाला, आपाततः, कोमल तथा दुर्बल जीव अपने मस्तिष्क तथा विलक्षण हाथों के नाते समस्त पृथ्वी की आकृति को ही बदल डालेगा। देश-काल को जीत कर और प्रकृति का प्रभु होकर पृथिवी, सागर, वायुमण्डल पर विजयी होकर आकाश में उड़ता हुआ सौर जगत् में बसने की उमंगें रखने वाला होगा। सागर पर सवार और उसकी तह में बसने वाला होगा। नदियों का रुख मोड़ने और पर्वत तोड़ने वाला होगा। जगत् की शक्तियां इसका पानी भरेंगी। पृथिवी का पेट चाक करेगा। तारों की रचना के रहस्य उद्घाटित करता उन्हें तोल सकेगा।

किन्तु मानव के प्रादुर्भाव से भी महत्तर घटना मानव-जागरण है। अब तक तो वह प्रकृति (दृश्य) की ओर ही

जाग रहा था, किन्तु अब अपने आप में जागने लगा है। पहले तो वह विद्यालोक में विश्व-अध्ययन करता रहा है, अब वह आत्म-प्रकाश में जीवन तथा मानव मूल्यों का अध्ययन करेगा और अपने प्राप्त अनुभवों को नये सिरे से परखे-जांचेगा।

अभी तक तो वह अनादि, अनन्त देशकाल में विश्व-जगत् का प्रसार तथा प्रवाह देखकर विस्मित हो रहा था, अब वह अपनी असीम आध्यात्मिक महिमा में जागने लगा है। कौन जानता था कि अत्यन्त क्षुद्र मानव शरीर में असीमता छिप रही है! और उसके क्षणिक जीवन में ही नित्यता होती है! कौन कलपना कर सकता था कि यह अति कोमल मानव सत्ता, जो शीतोष्ण के तारतम्य तथा ज़रा-सी चोट नहीं सह सकती, एक दिन वाष्प, विद्युत्, पैट्रोल, रेडियो, सूर्य-ताप, जागतिक किरणों तथा आणविक शक्ति को अपने हाथ-पांवों के सदृश काम में ला सकेगी! और विश्व-जगत् से ही उत्पन्न होकर इसके आदि-अन्त, इतिहास, क्रमविकास के नियमों पर विचार करता हुआ और इसके वास्तविक गुण-दोष को देखता हुआ इसके रूपान्तरण की योजना बनायगा। अन्ततः, अपने आप में जागता हुआ यह कह उठेगा—"मय्येव सकलम्"।

और कभी अपने सृष्टभाव से भी उठकर अपने को ही सर्व स्रष्टा अनुभव करता हुआ यह घोषणा कर पायगा कि—

अहं देवो न चान्योस्मि न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोस्मि नित्यमुक्तस्वभाववान्॥

अपने आप में जागा हुआ मानव अब यह मान नहीं सकता कि वह जगत्‌रूपी मशीन का एक विवश पुरज़ा है, इसका भाग्य-निर्माण किसी अन्य शक्ति वा सत्ता के हाथ में है, और

इसे सर्वभावेन सन्तोष तथा अनुवर्त्तन का जीवन-यापन करना चाहिये अथवा जीवन-ज्योति का उत्स उससे बाहिर है तथा वह न तो अपने लिये नवसृष्टि रच सकता है और न स्वयं अपने पुरुषार्थ से मुक्त हो सकता है।

मानव इतिहास में अब पहली बार मानव सामूहिक रूप में अपनी अपरिमेय शक्ति तथा स्वातन्त्र्य के लिये अपना जन्माधिकार अनुभव करने लगा है और इसलिये वह अब किसी राजनैतिक, आर्थिक अथवा धार्मिक मामलों में दासता तथा अधीनता को स्वीकार नहीं कर सकता और न ही वह अतीत का अनुसरण कर सकता है। अब वह पृथिवी का भविष्य तथा भाग्य आप निर्माण करेगा, अपने मस्तिष्क तथा हाथों से ऐसा स्वर्ग रच लेगा जो चिर नूतन होगा और यहीं और अभी अज्ञान, व्याधि, दारिद्रय, भय तथा अत्याचार से जीवन-मुक्ति लाभ करेगा।

अब ऐसा नव-युग आने को है, जो नित्य आवर्त्तमान चर्तुयुगियों की एक कड़ी होने के स्थान में नित्य प्रगतिशील होगा। ऐसे युग का आना ऐसा ही अनिवार्य प्रतीत होता है जैसा कि रात्रि के पश्चात् दिन। किन्तु जहां चतुर्युगियों का आना-जाना बाहिर से होता था, यह नव युग मानव के भीतर से सज्ञात भाव से प्रकट होगा।

किन्तु यह परिवर्त्तन विकासाभिमुख होगा। केवल परिवर्त्तन यथेष्ट नहीं है। इसकी सार्थकता के लिये आवश्यक है कि हमारे उद्देश्य ठीक, रचनात्मक तथा मानवीय हों और हमें वह ज्ञान-ज्योति प्राप्त हो जो हमें नित नूतन, प्रगतिशील तथा भद्र से भद्र सृष्टि का स्वप्न दिखा सके।

४. एकीकरण की ओर

जिस प्रकार पृथिवी पर क्रमविकास के व्यापक नियम के अनुसार पाशविक जीवन से मानव जीवन की अभिव्यक्ति होती है, इसी प्रकार हमारे चेतनात्मक जीवन में भी प्रथम सहज बुद्धि तथा भावों का उदय होता है और तत्पश्चात् बुद्धि, नीति तथा आध्यात्मिकता का क्रमागत आविर्भाव होता है।

पाशविक जीवन का प्राकृतक-नियम से परस्पर संघर्ष है और इसी हेतु से पाशविक-प्रवृत्ति मानव जगत् में भेद तथा विच्छेद का कारण होती हैं। तद्विपरीत मानवीय इन्द्रियां अपने शुद्ध स्वरूप में एकीकरण का प्रभाव रखती हैं।

यद्यपि दस लाख वर्ष से मानव जीवन का आविर्भाव हो चुका है, तो भी अभी तक इस पर पशुभाव ही प्रबल होते चले आए हैं। मानव इतिहास अधिकार, राष्ट्रीयता तथा धर्म के नाम पर परस्पर प्रतियोगिता तथा संग्राम का इतिहास ही तो है और जिस प्रकार पक्षियों तथा पशुओं के डार, रेवड़ तथा गल्ले देखे जाते हैं, इसी प्रकार मानव जगत् में भी बड़े-बड़े शक्तिशाली दल पाए जाते हैं, जो संशयशील होकर परस्पर संग्राम पर तुले हुए मानवता तथा उसके उद्देश्यों का अनुभव ही नहीं रखते। केवल किसी विरले व्यक्ति में ही कभी-कभी मानव-एकता का अनुभव जागता हुआ देखा जाता है।

आधुनिक युग, जो अपनी असाधारण प्रगति तथा सभ्यता का अभिमानी है, में पाशविक प्रबलता ही दिखाई पड़ती है।

बुद्धि पाशविक वासनाओं की सेवा में लग रही है और विज्ञान भी हमारी पैतृक पाशविकता की पूजा में लग रहा है। अधिकतर राष्ट्र परस्पर शीत अथवा उष्ण युद्ध के लिए अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करते हुए अपने हृदयों में द्वेष, पक्षपात, प्रतियोगिता के पाशविक भाव तरंगित कर रहे हैं।

किन्तु कुछ काल से संसार में ऐसी नवीन घटनाएँ घटित हो रही हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय एकीकरण के हेतु बन रही हैं, यथा डाक, तार, बेतार का तार, टेलीफोन, रेडियो, साँझा केलेन्डर, माप, तोल, अत्यन्त द्रुतगति से स्थानान्तरण, रेल, जहाज़, वायुयान, विभिन्न जातियों का मेल-जोल, सम्मेलन, इतिहास, धर्म तथा भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन, धर्म-सम्मेलनों में सभी देशों के लोगों का मिलना-मिलाना, किसी एक देश की आर्थिक दशा का अन्य देशों पर प्रभाव, विज्ञान-वेत्ताओं का सहयोग तथा अनुभव-विनिमय, समाचार, दुर्भिक्ष और भूकम्प आने पर अन्य जातियों की सहानुभूति, युद्ध के लिए भी विविध जातियों का मिलन और श्रमजीवियों का सम्मिलित कार्यक्रम संसार को एकीकरण की ओर ले जा रहा है।

भारत तथा अन्य देशों में धर्म-सम्बन्धी सहिष्णुता बढ़ रही है और सभी धर्म-सम्प्रदायों के लोग परस्पर मित्रभाव की स्थापना के लिए यत्नशील हैं। धर्म-सम्मेलनों में विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतिनिधि अपना-अपना सन्देश देते हैं और अब प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय मानव बन्धुता पर बल देने लगा है।

वैज्ञानिक प्रगति के फलस्वरूप अब सभी राष्ट्र परस्पर निकट और इतने शक्तिशाली हो चुके हैं कि अब वह एकी-

करण से ही बच सकते हैं, अन्यथा युद्ध की एक चिंगारी भी भड़क कर विश्व को भस्मीभूत कर देगी।

इसलिए अब विचारक-लोग एक विश्वराज्य के स्वप्न देखने लगे हैं। या तो यह स्वप्न सत्य सिद्ध होंगे या पृथिवी पर मानव इतिहास एक अतीत काल का स्वप्न हो जायगा।

किसी राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक व दार्शनिक व्यवस्था की सत्यता की कसौटी यही होगी कि वह मानव जाति में कहां तक एकीकरण का हेतु हो सकती है।

किन्तु जहां विज्ञान बाहिर से एकीकरण में सफल हो रहा है, वहां वह भीतरी एकीकरण न तो कर पाया है और न कभी कर पायगा, क्योंकि वह स्वयं ही भीतरी एकता की दृष्टि से वञ्चित है। विज्ञान का काम केवल विश्लेषण तथा सविशेष विवरण है। यह सत्ता के विभिन्न रूपों का अध्ययन करता हुआ मौलिक अद्वैत सत्ता को देखता ही नहीं। इसकी दृष्टि में तो मानव सत्ता भी विभिन्न परमाणुओं तथा शक्तियों का संघात मात्र ही है।

सत्यदर्शन ही विश्वव्यापी एकीकरण के लिए समर्थ है, क्योंकि यह सांयोगिक दृष्टि रखता है। इसकी दृष्टि अंश के स्थान में समग्र पर रहने से यह मानव एकता को देख सकता है। इसे विश्व एक अखण्ड सत्ता दिखाई देता है। यह प्रकृति, शक्ति, प्राण तथा चेतना में प्रभेद करता हुआ भी इन्हें एक ही सत्ता के विभिन्न रूप जानता है।

अब मानव जगत् अपने इतिहास में ऐसे बिन्दु पर आ पहुँचा है कि या तो यह आगे बढ़कर फूले-फलेगा या पीछे हटकर नष्ट हो जाएगा। आधुनिक परिस्थिति में राष्ट्र एक दूसरे से अलग होकर जीवित नहीं रह सकेंगे।

अब हमें प्राच्य व पाश्चात्य दर्शन की आवश्यकता नहीं है। प्रत्युत हमें केवल दर्शन, विज्ञान, नीति, धर्म एवं सर्वोदय अभीष्ट हैं और इन पर किसी प्रकार का विशेषण लगाना इन मानव संस्थाओं की विकृति मात्र ही तो है।

वर्तमान युगात्मा उस यन्त्रणादायिक भेद का विरोधी है जो मानवता के अत्यन्त मूल्यवान् भण्डारों को नष्ट करता चला आया है।

अब समय आ गया है कि हम पुराने पक्षपातों को तिलाञ्जलि देकर मानव एकता की ओर जाग उठें और सर्वात्मैक्य की नींव पर ऐसे मानव जगत् का निर्माण करें, जो प्रत्येक व्यक्ति को जीवन-सफलता का खुला तथा पूरा सुअवसर देने वाला हो।

---

५. एकत्व की यथार्थ धारणा

जीवन का गम्भीरतम रहस्य विचित्रता में एकता है। केवल एकता तथा केवल विचित्रता में कोई जीवन नहीं है। ऋषि तथा कवि इस एकता का साक्षात् दर्शन पाते हैं। दार्शनिक लोग इसे सिद्ध करते हैं। विश्व के राजनैतिक नेता भी अब मानव एकता के स्वप्न देखने लगे हैं।

सर्व में एकत्व-दर्शन वह आलोक है, जिसमें मानव जीवन जीने के योग्य होता है। इससे पूर्व न हम पशु होते हैं और न मानव। और इसलिए जीवनानन्द से वञ्चित रहते हैं। सर्वात्म ऐक्य की अनुभूति होने पर ही मानव का (आध्यात्मिक) पुनर्जन्म होता है।

किन्तु जीवन की एकता अनेकता की विरोधी होने के स्थान में केवल विचित्रता में ही नहीं किन्तु विचित्रता की ही एकता होती है। जीवन्त एकता में भेद तथा अभेद साथ-साथ चलते हैं और अनेकता की वृद्धि ही इसकी गम्भीरता का माप हो जाती है। तथा इस जीवन्त एकता को अनेकता द्वारा देखा जा सकता है। जीवन तत्त्व भेदाभेद है और यह विचार, कि एकत्व दर्शन पर अनेकता भासती ही नहीं, बड़ी भारी भूल है। जीवन्त एकता अनेकता व विचित्रता के बिना निरर्थक होती है।

यदि इस जीवन्त एकता को सेन्द्रिय एकता कहा जाए तो अनुचित न होगा। उदाहरणतः, यह जैवी एकता व्यक्तियों का वह एकीकरण होगी जिसमें वे अपने को मानवता के

अत्यावश्यक अंग अनुभव करते हुए उसकी सेवा के लिये तो जियेंगे, किन्तु इस पर भी वही अपनी व्यक्तिगत अद्वितीयता को अक्षुण्ण बनाए रखेंगे। यह जीवन्त एकता प्रत्येक व्यक्ति को अपने पूर्ण विकास का अवसर देगी किन्तु व्यक्ति की खातिर ही नहीं, अपितु इसलिये कि वह मानव समग्र की अधिकतम सेवा कर सके। इस जीवन्त एकता में समग्र तथा अंश की परस्पर सहकारिता होगी, किसी का भी किसी पर प्रभुत्व न होगा, इसमें व्यक्ति को आत्म-प्रकाश का खुला अवसर मिलेगा और सबका सबके साथ मेल होगा।

---

६. कई एक अलीक धारणाएँ

मिलाप तथा एकीकरण की आवश्यकताओं में भला कौन सन्देह करेगा। किन्तु इसके सम्बन्ध में कई एक मिथ्या धारणाएँ भी प्रचलित हैं, यथा—

(क) समानता—समानता जीवन्त एकता नहीं होती, रेत के कणों अथवा एक ही वजन के बट्टों में प्रतीत होने वाली एक जीवन्त एकता नहीं होती। जीवन्त एकता का एक चिह्न है कि उसमें विचित्रता अवश्य होती है और समग्र का प्रत्येक अंश अपनी विशेषता रखता है।

जीवन का सौन्दर्य तथा आनन्द "विचित्रता में एकता" है। किन्तु वर्त्तमान शिक्षापद्धति व्यक्ति को एक सांचे में ढालना चाहती है। और कारखानेदार लोग भी मज़दूरों के साथ एक कल के पुरज़ों का-सा बर्ताव करते हैं। किन्तु यह दृष्टिकोण मानव से मशीन के स्तर पर गिराने वाला है। वह शिक्षा जो व्यक्तिगत भेद का विकास नहीं होने देती, मानव के साथ ईंट का बर्ताव करती हुई, मानवता की घातक है।

(ख) एकरूपता—प्रत्येक परम्परागत धर्म तथा सम्प्रदाय अपने चिह्नों द्वारा अपने अनुयाइयों में सारूप्य उत्पन्न करना चाहता है। इसकी यही चेष्टा हुआ करती है कि इसके अनुवर्ती एक प्रकार की मान्यताओं को स्वीकार करते हुए एक ही प्रकार के अनुष्ठान किया करें। यद्यपि प्रथा एकीकरण का साधन प्रतीत होती है, किन्तु इस प्रकार का एकीकरण जीवन तत्त्व का विरोधी है। जीवन सदैव भीतर से विकसित

हुआ करता है, बाहिर से किसी सांचे में ढाला नहीं जाता। जीवनोत्कर्ष के लिये तो प्रत्येक व्यक्ति को जीवन-समस्याओं पर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने तथा अपने मानव-रचित अनुष्ठानों में अदला-बदली करने की इजाज़त होनी चाहिये।

घास, खेती, वृक्षों में कांट-छाँट से चाहे कितनी एकरूपता उत्पन्न कर ली जाए, अल्प समय के भीतर ही विचित्रता प्रकट हो जाएगी। विचित्रता का ध्वंस, वस्तुतः, जीवन अथवा व्यक्तित्व का ध्वंस है। एकीकरण-रहस्य सारूप्य के स्थान में अर्थ अथवा उद्देश्य की एकता में है। कोई मनुष्य भी किसी सांचे में ढल कर अपनी मानवता खो बैठता है। जीवन में बाह्य एकता की खोज न केवल व्यर्थ है, अपितु अत्यन्त अहितकर है।

जिस प्रकार हमारे चेहरे, शरीर, स्वर, रुचि में भेद देखा जाता है, इसी प्रकार योग्यता, गुण, स्वभाव, भाव, विचार विचित्र हुआ करते हैं। कोई सक्रिय और कोई अलस, कोई सबल और कोई दुर्बल, कोई दृढ़काय और कोई कोमल होता है, इसी प्रकार व्यक्ति व्यक्ति तथा जाति जाति में विचित्रता का होना अनिवार्य है। इसलिए वह एकता जिसमें मानवता का एकीकरण सम्भव है, बाह्याकार तथा बाह्य परिधि के स्थान में अन्तर तथा केन्द्र में ही पाई जा सकती है।

ऐसी एकता है और उसका साक्षात् अनुभव कर चुके हैं। यह केन्द्रीय तथा आध्यात्मिक एकता दर्शन तथा तर्क शास्त्र के स्थान में व्यक्तिगत अनुभव की वस्तु है।

आत्मा में विश्व-जगत् एक सत्ता है। जिसे आत्मोपलब्धि होती है वह सर्व में आपको और आप में सर्व को देख पाता है और प्राणिमात्र को ही अपना अंग और निर्जीव पदार्थों को

भी अपने अवयव जानता है। यह अनुभूति केवल ज्ञान ही नहीं, अपितु प्रेम भी है।

केवल मानव ही इस एकता का अनुभव कर सकता है और जब तक वह यह दृष्टि नहीं रखता, वह वस्तुतः मानव होता ही नहीं और वह यथार्थ जीवनानन्द को नहीं पाता है। इस अन्तर्दृष्टि के खुलते ही समस्त विचित्रता सौन्दर्य का रूप धारण कर लेती है और किसी से भी वैर अथवा भय नहीं रहता। मानव जीवन की अत्यन्त जटिल समस्या तब ही हल होगी कि जब सभी लोग सर्वात्मैक्य के तत्त्व की ओर जाग उठेंगे। तब तक संसार में विश्वव्यापी तथा यथार्थ प्रेम की बसन्त नहीं खिलेगी और न ही विज्ञान की किसी दरजे की उन्नति आध्यात्मिक एकता दिखा सकेगी। क्योंकि भौतिक विज्ञान, प्रकृति, शक्ति व प्राकृतिक नियम से परे कुछ देख ही नहीं पाता। विज्ञान तो संसार में केवल मशीनी (बाह्य) एकता स्थापन कर सकता है, आन्तरिक ऐक्य कदापि नहीं।

अन्तरात्म-दर्शन होने पर ही पता लगेगा कि अनन्तरूप तथा सतत परिवर्तनशील जगत् एक आत्मा की विभूति एवं चमत्कार है। अनेकता तथा विचित्रता प्रकाश में है, मौलिक सत्ता (आत्मा) में नहीं। जिस प्रकार सेन्द्रिय शरीर अपने अनेक अंगों में रूप, संगठन, स्वभाव, क्रिया की विभिन्नता होने पर भी वह एक ही जीवन तथा उद्देश्य रखता है इसी प्रकार ही आत्मदृष्टि खुलने पर समस्त मानवता में आध्यात्मिक व सेन्द्रिय एकता दिखाई देती है। शरीर के सभी अंग आकृति तथा क्रिया में विभिन्न होते हुए भी भीतर से एक ही होते हैं।

जब मानव अपने आप में जाग उठेगा, तब शक्ति के स्थान में प्रेम को प्रधानता होगी और प्रतियोगिता का स्थान सहकारिता ले लेगी। तब ही सभी राजनैतिक तथा साम्प्रदायिक झगड़े-रगड़े दूर होकर इसी भूलोक में ही स्वर्ग व परमलोक मूर्त्तिमान् हो जाएगा।

यद्यपि प्राचीन काल से अनेक सम्प्रदाय चले आते हैं, किन्तु अब तक मानव सभ्यता की नींव भौतिकता पर ही चली आई है। इसी कारण से ही मानव इतिहास दुःख, दीनता-हीनता की कहानी है और मरण-पश्चात् ही स्वर्ग भोगने अथवा मुक्त होने की आशा रखता है, जबकि स्वर्ग तथा मुक्ति वर्तमान जीवन के ही मूल्य हैं। यहीं पूर्णता तथा सफलता की प्राप्ति के लिए ही हम ने जन्म लिया है। मानवता के सर्वांगीन विकास का नाम ही आध्यात्मिकता है। मानव अभी परिपक्व हो नहीं पाया। उसने मछलियों के समान सागर में तैरना तथा डुबकियां लगाना और वायुमण्डल तथा आकाश में उड़ना तो सीख लिया है, किन्तु वह अभी तक पृथिवी पर मानवोचित जीना सीख नहीं पाया और विज्ञान द्वारा अपूर्वभूत शक्ति प्राप्त करने पर भी अपने को नहीं जानता। अपना आप किसी क्रिया व अभ्यास से नहीं पाया जाता।

---

७. अपने आप की खोज

मानव दृष्टि सर्वप्रथम बाहिर की ओर खुलती है। उसकी चेतना का आरम्भ इन्द्रिय-ज्ञान से होता है और सभी इन्द्रियों की प्रवृत्ति बाहिर को ही है। बाह्य उत्तेजनाएँ मानव को प्रभावित करती हुई उसमें सुख, दुःख, इच्छा तथा भय उत्पन्न करके उसकी चेतना को जागृत करती हैं।

किन्तु मानसिक जागृति से भी आत्मानुभूति नहीं हो पाती, क्योंकि अपना वास्तविक स्वरूप अन्तःकरण का विषय भी नहीं है। हमारे विचार, भाव तथा इच्छाएँ हमारे निकटतम होते हुए भी भौतिक पदार्थों तथा घटनाओं के समान बाह्य ही तो हैं।

अपना आप अपनी चेतना के केन्द्र में पाया जा सकता है, और जब तक हम केवल दृश्य को ही जानते हैं, द्रष्टा को नहीं, तब तक हमारा अत्यन्त गम्भीर तथा विस्तृत ज्ञान भी अपने में अज्ञानान्धकार रखता है इसलिए हम अपने आप में जागे बिना कुछ भी यथार्थ रूप में नहीं जान पाते, देखते हुए भी नहीं जानते कि क्या देख रहे हैं। जगत् में घूमते हुए भी नहीं जानते कि किसमें और किसकी सैर कर रहे हैं। ईश्वर-चिन्तन करते हुए भी नहीं जानते कि वास्तव में है क्या। आत्मज्ञान के बिना सभी ज्ञान भी अज्ञान ही है। आत्मज्ञान ही यथार्थ तत्त्व व ब्रह्मज्ञान है।

विज्ञान हमें पदार्थ-घटना-नियम-ज्ञान तो देता है किन्तु तत्त्वज्ञान कभी नहीं। क्योंकि उसकी दृष्टि केवल परिधि को

ही देखती है, केन्द्र की ओर कदापि नहीं। आत्म-ज्ञान के बिना हम अनुभव तो करते हैं, किन्तु अपने अनुभव का अर्थ नहीं जान पाते।

अपने आप को जान-पहचान कर एक प्रकार से सभी कुछ जाना जाता है, क्योंकि विश्व आत्मा की अभिव्यक्ति मात्र ही तो है। अपने आप में जाग कर हम उस पथ पर चल सकते हैं, जो यथार्थ तथा स्थायी शान्ति तथा आनन्द की ओर ले जाता है। "तरति शोकमात्मवित्।"

आत्मा अज्ञानान्धकार में गुप्त प्रतीत होता है, किन्तु आत्मज्ञान होने पर पता लगता है कि आत्मा सबसे प्रथम, सबसे अधिक प्रकट तथा सब का प्रकाशक है। आत्मा वह ज्योतियों की ज्योति है जिससे सभी ज्योतियां प्रकाशित हो रही हैं तथा अन्धकार का नाश हो रहा है। आत्मा न तो अज्ञात है और न अज्ञेय। वह प्रकाशित करता है, तो सब कुछ जाना जाता है।

---

८. आत्मज्ञान के लिए कतिपय संकेत

जब कोई पुरुष द्वितीया के चाँद को देखना चाहे तो उसे उंगली से चाँद का संकेत दिया जाता है। यदि वह संकेत पाकर चाँद की ओर देखे, तो उसे चाँद दिखाई देगा और यदि वह उंगली को ही देखता रहे, तो उसे चाँद कभी दिखाई न देगा।

यही बात आत्मज्ञान पर भी लागू होती है। आत्मा आवाङ् मनसागोचर तथा सगोचर है। उसकी ओर इशारे दिये जा सकते हैं। कोई भी इदम् रूप में आत्मदर्शन नहीं करा सकता। यह इशारे शब्द द्वारा दिये जाते हैं। जो वाच्य से लक्ष्य की ओर जा सके वही आत्मलाभ कर पाता है, और जो शब्द पर ही अटक रहे, वह केवल वाचक ज्ञानी हो सकता है, आत्मदर्शी कदापि नहीं। यहां पर आत्म-जिज्ञासु के लिए कतिपय संकेत दिये जाते हैं।

(क) अपने ऊपर नहीं, अपने भीतर देखो—यदि हम अपने को ऊपर की दृष्टि से देखें, तो कई प्रकार के आप प्रतीत होंगे, जैसे शरीर, प्राण, मन बुद्धि आदि। अथवा कभी अपने को स्वार्थी पाएंगे और कभी परार्थी, कभी आशापूर्ण और कभी निराश, कभी प्रसन्न और कभी शोकग्रस्त, कभी प्रेमी और कभी भयभीत, कभी सबल और कभी दुर्बल, कभी जागृत और कभी सुप्त, कभी स्वस्थ और कभी रुग्ण। किन्तु वास्तव में अपना आप तो इन विभिन्न रूपों की तह में सदैव विराजमान होता है। वह केवल है, अपनी ज्योति तथा अपना रस वह आप है। और कोई काल्पनिक

व अनुमानित सत्ता होने के स्थान में स्वतः सिद्ध, स्वयं प्रकाश, रसस्वरूप, सर्व प्रकाशक तथा सभी प्रमाणों का आदि तथा अन्तिम प्रमाण है।

हमें शारीरिक व मानसिक सुख-दुःख हुआ करते हैं जिन की वास्तविकता में तनिक सन्देह नहीं होता, इसी प्रकार मन में अनेक भाव तथा संकल्प अथवा बुद्धि में नाना प्रकार के विचार उठा करते हैं। इन विभिन्न संवेदनाओं, संवेगों, संकल्पों तथा विचारों की निरन्तर अदलाबदली की तह में इन्हें अनुभव करने वाली सत्ता एक और वहीं की वहीं रहती है, जो क्षणिक अवस्थाओं के आवागमन में ज्यों की त्यों रहती है। जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति का भावाभाव देखती हुई अनेक में एक, सर्वप्रत्ययसाक्षी तथा सर्वाधार है। और उसका कोई अन्य द्रष्टा वा साक्षी न तो है और न हो सकता है। अपने होने में सन्देह की सम्भावना ही नहीं है क्योंकि सन्देह करने वाले के बिना तो सन्देह भी नहीं हो सकता। आत्मा केवल अपने आप से ही जाना जाता है, किसी अन्य प्रमाण से कदापि नहीं।

(ख) "मैं" का मेरा तथा मुझ से विवेचन—आत्मा (अपनाआप) केवल है, और मानव के भीतर "अहं" के रूप में प्रकट हो रहा है। इस शुद्ध "मैं" का स्वरूप होना, तृप्ति तथा आनन्द है। यही द्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता और यही वस्तुतः महेश्वर एवं परमात्मा है। और कोई भी इससे ऊपर वा परे नहीं है। यह स्वयं पराकाष्ठा, परा गति है जो कुछ भी है इसी का है। सभी में ममत्व की भावना इसका स्वाधिकार है और सभी में यही एक अद्वैत होने से 'अहं मम' की घोषणा कर रहा है।

किन्तु जैसे राजकुमार होश सम्भालने से पहले यह न जानता हुआ कि सभी राज्य उसका अपना ही है, छोटी-छोटी चीजों वा खिलौनों के लिये रूठता एवं रोया करता है, वैसे ही जब तक पूर्ण आत्म-जागृति न हो, मानव अपने को एक व्यक्तिमात्र जान कर जगत् को 'मैं' और 'तू', 'मेरी' और 'तेरी' में बांट कर अशान्त तथा दुःखी होता है। 'मैं' और 'मेरी' मौलिक जीवन तत्त्व हैं, किन्तु अपने को दूसरों से अलग एक विशेष व्यक्ति में सीमित हो रहना समस्त क्लेशों का मूल कारण है। और पदार्थों को अपने पराए में विभाजित करना संसार में संघर्ष का बीज है। मानव जगत् में नरक का मूल सीमित 'अहं', 'मम' (मैं और मेरा) ही है। 'अहं' तो स्वयं आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, परब्रह्म, ईश्वर महेश्वर है। अहं है और है इससे परे कुछ नहीं। समस्त जगत् 'अहं' की ही अभिव्यक्ति है।

'मैं' और 'मेरा' व मुझमें विवेक तो हो सकता है, किन्तु विच्छेद कभी नहीं।

'मैं' एक है अनेक नहीं, सर्वद्रष्टा है, दृश्य नहीं। चेतन (विषयी) है, जड़ (विषय) नहीं। सर्वाधार है, आधारित नहीं। विध्यात्मक है, नकारात्मक नहीं, नित्य-मुक्त है, अनित्यबद्ध नहीं। अवस्था त्रय का साक्षी तथा पंचकोष से विलक्षण है किन्तु कभी लुप्त व विच्छिन्न नहीं होता।

(ग) स्वयं-ज्योतिः तथा अपरिवर्तनशील—आत्मा को सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह स्वतः सिद्ध है। न ही उसका अस्वीकार सम्भव है क्योंकि कोई है जो अस्वीकार करता है। 'मैं' हूँ और अपने को जानता हूँ। 'मैं' में अदला-बदली नहीं किन्तु 'मुझ' की सत्ता ही परिवर्तन में है। यह क्षणिक

संघात है। मुझका विभिन्न होना व न होना सोचा जा सकता है। किन्तु 'मैं' का भावाभाव सोचा नहीं जा सकता। अपना आप कल्पनातीत है। 'मैं' एवं मुझे एक ही अखण्ड सत्ता के दो नाम हैं। 'मैं अनन्त हूँ' का वैयक्तिक केन्द्र मात्र है। अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध में तो और कई प्रकार से सोचा जा सकता है किन्तु 'मैं' के सम्बन्ध में ऐसा करना असंभव है।

(घ) **अचल तथा अनन्त**—शुद्ध 'अहं' में आना-जाना नहीं, क्योंकि यह देश, काल, वस्तु को जानने वाली सत्ता है, न किसी के भीतर है, न बाहिर, न निकट है न दूर, न आगे है न पीछे। इस अचल तथा अपरिवर्तनशील सत्ता में स्थित होकर ही कदाचित्—संसार को हिलाया और बदला जा सकता है। 'अहं' (आत्मा) जगत् में व इसके आश्रय नहीं, जगत् आत्मा में और इसके आश्रित हैं। यह असीम है क्योंकि यह तो सीमाओं को जानता है, इसकी सीमा जानेगा ही कौन? सभी सीमाएँ दृश्य के अन्तर्गत हैं, द्रष्टा इनसे अतीत एवं इनका प्रकाशक है। 'अहं' तथा 'अहंकार' एक बात नहीं है। अहं तो केवल है ज्ञान-रसमय। किन्तु अहंकार का स्वरूप यह 'मैं हूँ' और 'वह नहीं हूँ' है। अतः, शुद्ध 'अहं' असीम है और 'अहंकार' सीमित ही होता है सदा तू से घिरा हुआ।

उपर्युक्त संकेतावली का मनन करने पर स्पष्ट हो जाएगा। कि मानव केवल शरीर, प्राण, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण व इनका संघातमात्र नहीं है, वह संचालक है और यह सब यन्त्र हैं जिनका वह द्रष्टा, अनुमन्ता, भर्त्ता तथा प्रभु है। आत्मा का स्वरूप तो केवल 'अहमस्मि' है।

---

६. आत्म-ज्ञान के फल

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आविष्कार जो अब तक मानव कर पाया है, आत्म-ज्ञान है। क्योंकि आणविक शक्ति भी तो जड़ होने से मानव के अधीन ही है।

किन्तु आत्मज्ञान का प्रयोग अभी तक वैयक्तिक जीवन पर ही सीमित रहा है। समाज पर कभी लागू नहीं किया गया। प्राय: इस ज्ञान को व्यक्तिगत शान्ति, आनन्द व मुक्ति का साधन समझा जाता है।

अब यह बात पहली बार समझी जाने लगी है कि आत्म-ज्ञान केवल आन्तरिक शान्ति, आनन्द व व्यक्तिगत मुक्ति प्रदान नहीं करता, अपितु जीवन के विकास का अलौकिक साधन है। इसकेद्वारा मानव अपना भाग्य-विधाता आप बन जाता है, सब संशय कट कर हृदय-ग्रन्थियां खुल जाती हैं और अपने भीतर से ही जीवन, बल, तेज, ज्योति:, प्रेम तथा आनन्द के स्रोत बहने लगते हैं। जीवन वृक्ष हरा-भरा हो जाता है और उसमें अति सुन्दर फूल और अमृत फल लगने आरम्भ हो जाते हैं। यथा—

(क) **यथार्थ जीवन तथा प्रभावशाली जीवन**—जीवन का उद्देश्य आत्म-प्रकाश है, जो मैं और मुझ में विवेचन द्वारा ही सम्भव है। पुरुष श्रद्धामय है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही हो जाता है। "या मतिः सा गतिर्भवेत्" जैसी मति वैसी ही गति। जो अपने आप को एक सीमित, तुच्छ, अल्प, क्षर, प्रतिबिम्ब जानता है, उसकी असीम शक्यताएँ सुप्त ही

रहती है और जो अपने को सच्चिदानन्द, अनन्त, महान्, अक्षर तथा नित्य निश्चय करता है, उसमें तेज, बुद्धि, बल की अवश्य जागृति होती है। जो अपने को एक अखण्ड सत्ता नहीं करता, उसके व्यक्तित्व में एकीकरण न हो पाने से शक्ति-क्षय होता रहेगा और कभी उसके भीतर से बल का उद्गम न होगा। यथार्थ आत्मज्ञान मानव को धृति, निर्भयता, निश्चलता, प्रभावशालिता, स्वास्थ्य तथा आनन्द प्रदान करता है। आत्मज्ञान-रहित जीवन केन्द्रहीन होता है।

(ख) **आत्म-शासन**—जब मानव स्पष्टत: जान लेता है कि वह केवल जानने, अनुभव व इच्छा करने वाला जन्तु ही नहीं, अपितु वह दिव्य सत्ता है, जो जानती, अनुभूति व इच्छा करती है। तब उसमें धीरता, आत्माधिकार, प्रशान्त-भाव के गुण सहज ही उत्पन्न हो जाते है और वह अपनी शक्तियों तथा प्रवृत्तियों का दास रहने के स्थान में यथार्थ स्वराज्य प्राप्त करता हुआ अपना प्रभु आप होता है और तभी तो वह वस्तुत: स्वतन्त्र हो पाता है। वह अपने को भर्ता जानता हुआ अपने ही तन, प्राण, मन आदि यन्त्रों द्वारा विचलित न होता हुआ अनुमन्ता रूप में इन्हें जिधर चाहे लगाता है। यह आत्मराज्य ही तो जीवन आनन्द की चाबी है। अथ च आत्म-ज्ञानी अपने व्यक्तित्व तथा भाग्य का निर्माता हो सकता है। आत्मज्ञान द्वारा ही मानव एक सृष्ट जन्तु के स्तर से ऊपर उठकर स्वयं अपना तथा अपनी परिस्थिति का नव-निर्माण कर सकता है।

(ग) **स्वावलम्बन**—आत्मज्ञान ही मानव को सीधा खड़ा होना सिखलाता है। नहीं तो वह आजीवन किसी न किसी का पुजारी तथा अनुवर्ती ही रहता है। आत्मवित् मानव को

"असम्भव" का शब्द व्यर्थ प्रतीत होने लगता है। वह निस्सन्देह जान लेता है कि जो कुछ बुद्धिसंगत है, वह कभी न कभी हो सकता है। इसलिए वह सदैव आशापूर्ण रहकर दूसरों में भी आशा का सञ्चार करता है। वह मुक्तकण्ठ से कह सकता है, "मैं हूँ और कर सकता हूँ" क्योंकि वह अपनी शक्यता को सीमा-विहीन अनुभव करता है। वह परामर्श तथा जिज्ञासा करना तो जानता है, किन्तु मांगना कदापि नहीं। वह सहकारी होना चाहता है, किन्तु सेवक नहीं। वह अपना प्रमाण तथा अपना दीपक आप ही होता है और केवल मानने के अन्धकार से निकल कर जानने के उजाले में जीता हुआ अन्तरात्मा को ही अन्तिम प्रमाण निश्चित करता है। शिक्षा का मूल तत्त्व आत्मावलम्बन व आत्मविश्वास है। मानवातीत कोई भी ज्योति अथवा सत्ता नहीं है। केवल मानव ही निकृष्टतम की ओर गिरने तथा श्रेष्ठतम की ओर उठने का स्वातन्त्र्य तथा दायित्व रखता है। कोई इसे गिराने व उठाने वाला नहीं। डूबना व तैरना इसकी अपनी जिम्मेदारी है। किन्तु जब तक मानव अपरिपक्व रहता है तब तक वह अपने दायित्व से अनभिज्ञ ही रहता है और सच तो यह है कि अपने आप को जाने-पहचाने बिना मानव रूप रखता हुआ पशु ही रहता है।

---

१०. आत्म-परिचय के क्रियात्मक साधन

आत्म-परिचय का मौलिक रहस्य यही है कि न केवल 'अहम्' तथा 'मम' में अपितु 'मैं' और 'मुझ' में स्पष्टतः विवेचन किया जाए। सदा ही ज्ञाता-ज्ञेय, द्रष्टा-दृश्य, साक्षी-साक्ष्य, एक-अनेक, अचल-चल, अपरिवर्तनशील-परिवर्तनशील में प्रभेद (विच्छेद नहीं) की स्मृति बनी रहे और सदा अपने को सर्वदृश्य का द्रष्टा तथा सबसे न्यारा समझे। किसी भी दृश्य के साथ मिलकर तदाकार न हो। अपने को सर्वसाक्षी जानने से परे कोई ज्ञान और अपने को स्थूल शरीर मान लेने से अधिकतर कोई अज्ञान नहीं है।

अतः, सदा यह देखा करो कि कहीं देह तो तुम्हारे ऊपर सवार नहीं हो रही। याद रखो कि तुम देह नहीं हो। किन्तु देह को घृणित मत समझो, क्योंकि देह ही तो मानव जीवन का तथा आत्मप्रकाश का आदि साधन है। अपनी इच्छा से ही बारंबार देहचिन्तन छोड़कर आत्मस्थ रहते हुए, दैहिक मांगों तथा प्रवृत्तियों, क्षुधा-पिपासा, सुख-दुःख और तुच्छ कामनाओं की परवाह न रखो। जब तुम शरीर के अनुवर्ती न रहोगे, तब शरीर स्वयं तुम्हारा अनुवर्ती हो तुम्हारा सेवक हो जाएगा और तुम्हारा वाहक होने के स्थान में तुम्हारा वाहन होगा।

तुम अब तक शरीर के दास चले आए हो, तुम इस अपने ही पालतु पशु पर अधिकार जानते ही नहीं। इस साधन द्वारा तुम अपने पिछले संस्कारों तथा अभ्यासों से मुक्त होकर अपने इस अत्यन्त आवश्यक, उपयोगी तथा परम आदरणीय जीवन यन्त्र के स्वामी हो जाओगे।

पशु में यह सामर्थ्य नहीं कि वह अपने को शरीर से भिन्न समझे। केवल मानव ही अपने को देह से विविक्त करता हुआ इसे मानविक उद्देश्यों की सेवा में प्रयुक्त कर पाता है।

जब तक हम अपने को देह माने हुए हैं, तब तक दैहिक बन्धन से बंधे रहते हैं। किन्तु अपने अन्तःकरण के साथ तन्मय हो रहना, दैहिक बन्धन से भी बड़ा बन्धन है और जब तक हम इस सूक्ष्म बन्धन से मुक्तिलाभ नहीं कर पाते, हम यथार्थ स्वातन्त्र्य को जानते ही नही। बरगुसन ने ठीक कहा है—

"उस व्यक्ति से अधिकतर स्वातन्त्र्य से अनभिज्ञ कोई नहीं है जो केवल बौद्धिक स्तर पर ही जीता है, क्योंकि मानव अपने मन और बुद्धि से भी अधिकतर गम्भीर सत्ता रखता है। अतः, तुम जान-बूझकर प्रतिदिन कभी-कभी अपने मन तथा बुद्धि को भी एक सूक्ष्म दृश्य तथा यन्त्र मान कर इन्हें पीछे छोड़ते हुए आत्मस्थ होने का प्रयत्न किया करो। अपने मन तथा बुद्धि के विचारों, माँगों, पक्षपातों, भ्रमों, मिथ्या कल्पनाओं तथा विभिन्न प्रकार के भयों, इनकी सच्चाइयों तथा भूलों को भूलकर अपने सहज ज्ञान के उजाले में दृश्यातीत स्वयं प्रकाश, स्वतः सिद्ध, परम तत्त्व की ओर जाने का प्रयत्न करो। ठान लो कि तुम केवल स्तर पर ही जीने के स्थान में सर्वातीत तथा सर्व-गत मूल तत्व को जाने बिना न रहोगे।

आधुनिक काल में मानव बौद्धिक स्तर पर विस्मयजनक प्रगति करने पर भी मानव समस्याओं के समाधान में न केवल सफल नहीं हो पाया, अपितु अपूर्वभूत संकटापन्न हो रहा है।

इससे भी आगे बढ़कर तुम्हें बाह्य बन्धनों तथा उलझनों, मुद्रा, वस्त्र, सुख, भोग, सुख्याति तथा जनसाधारण के साथ मोह से भी मुक्त होना होगा। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम इन सभी चीज़ों से नितान्त असंग हो जाएँगे। ऐसा

करना तो बड़ी भूल होगी। हमें तो इन सम्बन्धों से केवल इसी मात्रा में मुक्त होना होगा कि इनका स्थान जीवन में साध्य के स्थान में साधन का रह जाए। इन से अत्यन्त विच्छेद तो एक प्रकार का अति घृणित आत्मघात ही तो होगा।

ऐसा करते हुए हम जीवन का त्याग करने के स्थान में बाह्य, रिक्त तथा विक्षुब्ध जीवन से गम्भीरतर, प्रचुर, प्रशान्त जीवन में प्रवेश करते हैं तथा जीवन-वृत्त से बाहिर पलायन करने के स्थान में केन्द्रस्थ होकर जीने लगते है। बाह्य (ऊपर का) जीवन दूसरों के साथ संघर्ष का कारण होता है किन्तु गम्भीर जीवन में हम ससमग्र अनुकूलता प्राप्त करते हैं। ऐसे यथार्थ जीवन में देह तथा मनबुद्धि भी नव मूल्य पाते हैं। पर्वतारोहण करते समय निचले दृश्य भी नवीनतर सौन्दर्य दिखाया करते हैं। सम्यक् जीवन केवल भ्रम तथा विरोध को ही दूर न करता हुआ मानव संघात के सभी उच्च-नीच अवयवों का यथायोग्य अर्थ तथा सामंजस्य करता है।

यह एक सरल जीवन-तथ्य है कि हम अपने को पाकर, यथार्थतः, अपनी देह तथा मन को पाते हैं। इससे पहले तो हम उनके दास ही हुआ करते हैं। सभी पदार्थ उस व्यक्ति का अनुसरण करते है, जिसने आत्मलाभ कर लिया है, आन्तरिक ऐक्य की उपलब्धि पर हमारी समग्र सत्ता एक होकर नव-शक्ति, नव-सामंजस्य, नव-प्रसाद तथा नव-शान्ति प्राप्त कर लेती है। आत्मज्ञ पुरुष बाह्य पदार्थ का इसलिये त्याग नही करता कि उससे अलिप्त रह सके। अपितु ऐसा करने पर वह अपनी स्वभावगत महिमा तथा महानता के साथ उनका उपभोग कर पाता है। वह यदि संसार चक्र से निकलता है तो मुक्त होने के लिये नही, अपितु इसलिये कि इस चक्र को अपनी जीवन गाड़ी में प्रयुक्त कर पाए।

११. मत्तता वा सचेतता ?

निस्सन्देह श्रम के पश्चात् विश्राम अधिक प्रिय प्रतीत होता है। किन्तु जो लोग विश्राम का सुख पाकर सदा विश्राम ही चाहते हैं, वे विश्राम के सुख को भी खो बैठते हैं। कड़ी धूप के बाद छाया सुखद प्रतीत होती है किन्तु केवल छाया में ही सुख मान लेना बुद्धिमत्ता नहीं है।

इस प्रकार जब हम केवल नानात्व तथा भेद में जीने के पश्चात् आत्मस्थिति द्वारा एकता तथा अभेदता का आनन्द अनुभव करते हैं, तब हमारी यही इच्छा प्रबल होती है कि सदा 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः' रहकर जिया करें। किन्तु यह बड़ी भूल है, क्योंकि जीवनानन्द न केवल एकता में है न केवल अनेकता में, अपितु अनेक में एक तथा बाह्य विचित्रता में ही आन्तरिक एकता अनुभव करने में है। जीवन का सारतत्त्व ही 'भेदाभेद' है। केवल अनेकता में विक्षेप ही है और केवल एकता में भी सजीव आनन्द नहीं होता। माना कि केवल अनेकता व भेद ही देखना अविद्या है किन्तु केवल एकता का दर्शन तो घनतर अविद्या ही तो है। केवल भेद रव (शोर) है और केवल एकता भी सुनसान के सिवा कुछ नहीं। जीवन-संगीत में तो सदा ही वैचित्र्य में ऐक्य तथा परिवर्तन में समरसता होती है।

जो लोग आत्मज्ञान होने पर केवल आत्मरति, आत्म-क्रीड़ा ही चाहते हैं, वे जीवन की उस पूर्णता से वंचित रहते हैं, जिसके लिए ही तो आत्मज्ञान आवश्यक था। आत्मज्ञान के बिना जीवन अपूर्ण रहता है, किन्तु आत्मज्ञान भी जीवन

का साधन ही है, स्वयं जीवन नहीं है, उद्देश्य नहीं है। जीवन किसी का साधन नही। जीवन जीने के लिए ही है। जो लोग जीवन के अर्थ से अनभिज्ञ हैं वह आत्म-ज्ञान होने पर जीवन क्षेत्र में आने के स्थान में प्रकृति, समाज, गृह तथा कामकाज से घृणा करते हुए अपने उदाहरण से दूसरों को भी उदासीनता तथा विरक्ति के भावों से संक्रामित किया करते हैं।

जीवन आत्मा में डूबने के लिए नहीं, प्रत्युत अपनी असीम शक्यताओं के प्रकाश के निमित्त है। इसे तो मत्तता के स्थान में सचेतता तथा दक्षता की ओर गतिशील होना चाहिए। आत्मज्ञान की आवश्यकता है तो केवल इसलिए कि इसके फलस्वरूप जीवनरव जीवन-संगीत में परिणत हो पाए, देह तथा मन के भीतर कोई विरोध न रहे तथा सत्ता के सभी अवयवों में सामंजस्य स्थापित हो जाए।

जीवन की मांग निरन्तर विकास है, जो परिस्थिति के सम्बन्ध में ही सम्भव है। जीवन तो परिस्थिति के सम्बन्ध में है, इससे उदासीन होने तथा कट जाने पर यह सूख जाता है। जिस प्रकार भूख-प्यास स्वास्थ्य के चिह्न हैं, इसी प्रकार ही परिस्थिति से अनुरक्ति मानसिक तथा आध्यात्मिक स्वास्थ्य की द्योतक है। देह तथा संसार से विरक्त तथा उदास रहने वाले निश्चय ही अस्वस्थ होते हैं।

यह सत्य है कि आत्मानुभूति के निमित्त अल्पकाल के लिए दैहिक तथा मानसिक स्थिरता आवश्यक होती है, किन्तु आत्मानुभूति हो चुकने पर अन्तः-स्मृद्धि का आनन्द पाने तथा विकिरित करने के लिए कर्म करना होगा। संगीतकार गा-वजाकर ही अपने आन्तरिक आनन्द का उपभोग कर सकता है, मौन तथा निष्क्रिय रहकर कदापि नहीं।

प्रत्येक मानव के भीतर से यह स्वाभाविक घोषणा हो रही है—मन देह तथा अन्तःकरण। हम यदि अल्पकाल के लिए अपनी दैहिक तथा मानसिक शक्तियों से असंग होते हैं तो केवल अपने सत्ता-केन्द्र पर पहुँच कर विश्व जगत् को अपनाने के लिए, ताकि हम अपना सभी कुछ त्याग करके सब कुछ पा सकें—स्वराट् से सम्राट् हो जाएँ। फूलों में अपनी हँसी, सूर्य-चन्द्र में अपनी चमक-दमक, पर्वतों में अपना महत्त्व, तारों में अपनी उच्चता, सागर में अपनी विशालता तथा गम्भीरता, सूर्योदय, सूर्यास्त तथा इन्द्रधनु के सौन्दर्य में अपना ही चेहरा तथा विश्वजगत् में अपना ही प्रकाण्ड शरीर देख पाएँ। यह जगत् आत्म-विभूति है और जगत् को भ्रम मात्र निश्चय कर लेना एक प्रकार की आत्महत्या ही तो है।

जिस प्रकार केवल अस्वस्थ मन ही अपने दुःख-क्लेश से बचने के लिए नशा चाहता है, इसी प्रकार जीवन संग्राम में हारे हुए लोग मत्तता के अभिलाषी होते हैं, क्योंकि वे दायित्व का बोझ सहने तथा कठिनाइयों का सामना करने का साहस नहीं रखते। किन्तु वीर तथा उच्चाभिलाषी लोग मत्तता तथा अचेतता को अफीम समान त्याज्य जानकर अपने में सचेतना की ज्वाला को ही उत्तरोत्तर चमकाया करते हैं। वे भुलाना चाहते हैं तो केवल अपने क्षुद्रभाव को ही। वे विश्वव्यापी जीवन में गम्भीर अभिरुचि रखते हुए भोग-मोक्ष के निराकांक्षी होते हैं और अपने आप में डूबने के स्थान में प्रकृति तथा समाज के साथ आत्मैक्य को अनुभव द्वारा शाश्वत तथा निरातिशय आनन्द पाकर कृतकृत्य हो जाते हैं।

---

१२. मानव तथा प्रकृति की एकता

मानव इस संसार में कहीं वाहिर से नहीं भेजा गया, अपि तु इससे ही क्रमविकास के नियमानुसार उद्‌धृत हुआ है और संसार भी कोई ऐसी सत्ता नहीं है, जिसे कभी किसी ने उत्पन्न किया था, यह तो संगीत अथवा ज्वाला के सदृश निरन्तर हो रहा है। एक अपरिमेय शक्ति विद्यमान है जो निरन्तर गतिशील रहकर नए से नए रूप धारण कर रही है। यह शक्ति, जिसके कार्य अन्धाधुन्द व आकस्मिक होने के स्थान में अपने उद्देश्य रखते हैं, उनकी पूर्ति के लिए उपयुक्त साधन काम में लाती है।

वर्तमान युग में इस पुरातन धारणा के लिए कोई स्थान नहीं रहा कि विश्व तथा विश्व-निर्माता दो विभिन्न सत्ताएँ है। यह सृष्टि इसलिए निरन्तर उत्पन्न हो रही है कि यह एक जीवित सत्ता है। वृक्ष इसलिए उगता तथा वढ़ता है कि उसमें जीवनशक्ति विद्यमान होती हैं। इसे कोई अन्य सत्ता व शक्ति उत्पन्न नही करती। संसार से अनेक तथा नए से नए प्राणियों की उत्पत्ति निर्विवाद रूप से सिद्ध कर रही है कि यह स्वयं जीवन से भरपूर है। यह संसार स्वयं उत्पन्न तथा विकसित हो रहा है। इसे वाहिर से कोई वना नही रहा। जग-जीवन ही परमात्मा व अन्तरात्मा है। संसार का चित्र भी कोई और नहीं बनाता। सभी कुछ उसी वीज में ही विद्यमान है जो अनादि अनन्त रूप में प्रफुल्लित हो रहा है। किन्तु जहां बीज को परिस्थिति से मसाला लेना पड़ता है वह मूल सत्ता स्वयं अनन्त अद्वैत होने से आत्म-निर्भर

है। देश-काल उसी से और उसी में हैं और द्रव्य, शक्ति, जीवन, चेतना सभी उसी के रूप हैं।

मानव समस्त जगत् का अपना ही एक स्व-जागृत अंग है और जिस प्रकार चक्षु तथा मस्तिष्क देह से ही उत्पन्न होकर इसे देखते तथा जानते हुए इसका पथ-प्रदर्शन करते हैं, इसी प्रकार मानव भी प्रकृति से जन्म लेकर इसका नियन्त्रण तथा पुनर्निर्माण करने लगता है, मानो स्वयं प्रकृति ही मानव रूप में जाग उठी हो, कभी वह जड़ जगत् के रूप में सो रही थी, फिर वह वनस्पति के रूप में वर्द्धित तथा कालान्तर में, पशु रूप में चलने फिरने, देखने सुनने लगी। अन्त में मानव रूप में जागृत होकर अपने विकास का साक्षात् भाव से चारज लेना आरम्भ कर रही है। यह जगत् हमारा अपना ही देश, घर और देह है। जीवन का उद्देश्य परलोक के लिए तैयारी के स्थान में इस लोक को ही सुन्दर तथा भद्रतर बनाना है।

यतः, मानव जीवन की गति अविद्या से विद्या की ओर है इसलिए आरम्भ में भूल तथा भ्रम का होना आकस्मिक नहीं, अनिवार्य है और इसी लिए ही जिस प्रकार पाशविक प्रवृत्तियां हमारे हिस्से में आई हैं, उसी प्रकार हम में कई प्रकार के भ्रमों तथा भूलों का होना स्वाभाविक है, क्योंकि मानव नीचे से ऊपर की ओर उठ रहा है। किन्तु कठिनाई तो यह है कि ये मिथ्या-भ्रम, अपनी पुरातनता के कारणस्वरूप एक प्रकार की पवित्रता तथा अलंघनीयता प्राप्त कर लेने से, जीवन प्रगति में हठीली बाधाएँ हो जाते हैं।

किन्तु पर्याप्त विकास प्राप्त कर लेने पर मानव अतीत की दासता से मुक्त होकर इसकी आलोचना करता हुआ केवल इसकी अच्छाइयों तथा सच्चाइयों को ही ग्रहण करता है और

इनका अन्धानुसरण नहीं करता। मानव एक अनन्त उन्नतिशील सत्ता होने से अतीत का अनुवर्ती होने के स्थान में नित नए से नए तत्त्व के आविष्कार द्वारा जीवन के सदैव नवीकरण में व्यस्त रहता है।

एक समय था कि जब मानव प्रकृति से बहुत डरता था, क्योंकि वह अपने आस-पास एक परमशक्ति की प्रबलता देखता था। सम्भवतः, इसी दशा में ही उस धर्म का प्रादुर्भाव हुआ था जो अभिवादन, प्रार्थना, समर्पण सिखलाता है। किन्तु ज्यों-ज्यों मानव का अनुभव बढ़ता गया, उसका भय क्रमशः सम्भ्रम, विस्मय तथा जिज्ञासा में परिणत होता गया और सम्प्रति वह अनुभव करने लगा है कि प्रकृति उसके साथ मित्रत्व का सम्बन्ध रखती है और कई समुन्नत लोग देखने लगे हैं कि यद्यपि मानव तथा प्रकृति में विज्ञान-विकास के साथ प्रभेद बढ़ता चला जा रहा है, तो भी अब इन्हें दो विभिन्न सत्ताएँ नहीं माना जा सकता।

प्रकृति क्या है? रूप, शब्द, रस, गन्ध, स्पर्श का समूह है और अब विज्ञान द्वारा स्पष्ट हो चुका है कि वर्ण चक्षु से भिन्न कोई सत्ता व अर्थ नहीं रखता, क्योंकि वर्ण की उत्पत्ति चक्षु में, शब्द की कान में और रस की रसना में होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उत्तेजनाएँ बाहिर से आती हैं, किन्तु हमारे अनुभव हमारी अपनी प्रतिक्रियाएँ ही होते हैं। अथ च अब विज्ञान को मानना पड़ा है कि हम केवल अपने अनुभवों को ही जान पाते हैं, उनके बाह्य कारणों का साक्षात् ज्ञान नहीं रखते। इन बाह्य उत्तेजकों के प्रभाव भी हमारे इन्द्रिय गोलकों के संगठन तथा ग्रहण-शक्ति के अनुसार ही अपना प्रभाव डाल सकते हैं। यदि आज हमारे इन्द्रिगोलकों

की बनावट बदल जाए व उनकी संख्या बढ़ जाए तो हमारी सृष्टि भी बदल जाएगी। इस हेतु से यह धारणा कि जिस प्रकृति का हम अनुभव करते हैं वह हमारे इन्द्रिय से स्वतन्त्र रूप में चली आती है और चली जाएगी, एक निराधार भ्रम ही है। हमारा संघात तो एक बाजे के समान है जिसे कोई अदृश्य शक्ति बजा रही है और हम उससे निकलने वाले राग को स्वतःसिद्ध जगत् मान रहे हैं। काल में तो ऐसा ही प्रतीत होता है कि हम इस सृष्टि से उत्पन्न हुए हैं, जबकि वास्तविकता यह है, कि हमारी अनुभूत-सृष्टि हमारे अपने मानसिक यन्त्रों में ही उत्पन्न होती है। इसी लिए कहा गया है कि जीव-जीव प्रति सृष्टि है, तथा दृष्टि-सृष्टिवाद भी इसी तथ्य का उल्लेख करता है।

कान्ट, शापेनहावर आदि दार्शनिकों ने भी देख पाया था कि जिन देशों तथा कालों में सृष्टि का तमाशा व डरामा हो रहा है वे हमारे मन से बाहिर कोई सत्ता नहीं रखते। अतः, यह परम्परागत धारणा कि हम देश-काल में सत्ता रखते हैं, एक निराधार भ्रम ही है। हमारी चेतना सृष्टि के अन्तर्गत होने के स्थान में सृष्टि हमारी चेतना के अन्तर्भूत है। यहां पर यह प्रश्न हो सकता है कि हमें सृष्टि की बाह्य सत्ता का इतना बड़ा भ्रम क्यों हो रहा है। इसका उत्तर यही है कि हमारे इन्द्रिय सृष्टि को यथार्थ रूप में देखते ही नहीं। यदि वह ऐसा कर पाते, तो यह सारा दृश्य ही अन्तर्धान हो जाता। वास्तव में यह सृष्टि क्रियाओं की लीला है, किन्तु हम इसे पदार्थ-जगत् जानकर व्यवहार करते हैं। जिसे हम द्रव्य समझते है वह तो वैद्युतिक क्षरण मात्र ही हैं। यदि मेज़, कुर्सी को हू-बहू देख पाएँ तो मेज़, कुर्सी ही न रहेंगे और माँ माँ ही

नहीं रहेगी। हमारे इन्द्रिय-ज्ञान के भीतर भ्रम-तत्त्व विद्यमान है। जगत् को हम वैसा ही मान लेते हैं जैसा कि यह प्रतीत होता है, किन्तु यह नितान्त प्रतीतिमात्र व सत्ताशून्य नहीं है, अन्यथा चेतना तथा जीवन ही व्यर्थ होते।

परन्तु अनुवीक्षिणक दृष्टि को छोड़कर साधारण दृष्टि से देखा जाए तो स्पष्ट दिखाई देगा, कि मानव तथा जगत् विभिन्न सत्ताएँ नहीं हैं, जिस प्रकार चक्षु तथा आलोक, फेफड़े तथा वायु, जीवन तथा आहार, इन्द्रिय तथा विषयगत सौन्दर्य, बुद्धि तथा जगत् की व्यवस्था, द्रष्टा तथा दृश्य, चेतन तथा जड़ पारस्परिक सम्बन्ध में ही कोई अर्थ रख सकते हैं, इसी प्रकार मानव तथा जगत् एक अखण्ड सत्ता के ही दो रूप हैं। प्रकृति पुरुष का तथा पुरुष ही प्रकृति का रूप धारण किए हुए हैं।

अन्तर्दृष्टि खुलते ही ऋषि कह उठता है, "अहमेकमिदं सर्वम्।" किसी भी चक्षु ने आज तक अपना अन्य नहीं देखा, किसी कान ने अपना अन्य नहीं सुना, हम अपने ही 'बड़े आप' से उद्भूत होकर इसके अन्तर् ही जीते, चलते-फिरते तथा सत्ता रखते हैं। हम यहां केवल अपने घर में ही नहीं, अपनी ही सृष्टिमाता की क्रोड़ में जीवनदुग्ध पिया करते हैं।

यह सत्य नित्य स्मरणीय है कि सृष्टि कोई निर्जीव सत्ता नहीं है, अन्यथा हमारी उत्पत्ति कैसे होती। मातृ-स्तन्यों से दुग्धामृत की धारा कैसे बहा करती? तत्त्वदर्शी ऋषियों-कवियों ने साक्षात् देखा है कि यह सृष्टि **'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्'** मूर्तिमान् ही नहीं, अपितु अपना आप ब्रह्म ही है।

जब तक प्रकृति में अपना आप नहीं देख पाते तब तक परलोक अथवा सृष्टिनिर्माता की ओर दौड़ा करते हैं, किन्तु जब सृष्टि का सम्यक् दर्शन प्राप्त कर लेते हैं, तब इससे पलायन छोड़कर अपनी माँ के समान इसके आलिंगन के लिए व्याकुल हो जाते हैं, तब हम यहीं अपना परमधाम, परमलोक, परमगति देखकर आप्त-काम तथा कृतकृत्य हो जाते हैं।

प्रकृति के साथ अपनी दैहिक एकता की अनुभूति हृदय से भय, सन्देह, निराशा तथा कायरता मिटा कर स्वावलम्बन तथा साहस प्रदान करती हुई मानव को अपनी, आपाततः, क्षुद्रता तथा निर्वासन के भ्रम से विमुक्त कर देती है। तब यही सृष्टि बन्धनकारक होने के स्थान में न केवल हमारी असीम शक्यताओं को जगाने लगती है, अपितु इनके प्रकाश का अत्यन्त मूल्यवान् साधन हो जाती है। तब हम जान लेते हैं कि यह सृष्टि हमारी है, इसकी अपार शक्ति हमारी सम्भव शक्ति, इसके अटल नियम हमारे ही स्वभाव नियम हैं तथा उनका पालन ही यथार्थ स्वातन्त्र्य है। जगत् क्या है, अपने दर्शन का महान् तथा परम अद्भुत दर्पण है। इसी लिए बौद्धिक विचार के नियम पदार्थों के नियम हैं और अनन्त वैचित्र्य में ही पूर्ण ऐक्य है।

---

१३. व्यक्ति तथा समाज की एकता

यदि हम अपने भीतर शुद्ध, अखण्ड, नित्य तथा चेतन 'अहम्' के एक अद्वैत स्वरूप की अनुभूति पर उसमें ही समा जाने की कायरता-पूर्ण प्रवणता न रखते हों, तब जो ऐक्य अपने भीतर पाया गया है, उसे अपने आस-पास पाए बिना न रह सकेंगे।

विज्ञान, दर्शन तथा काव्य सम्बन्धी अन्तर्दृष्टि से पता लगता है, कि सृष्टि केवल पदार्थों का समुदाय, घटनाओं का प्रवाह, प्राणियों का समूह व परमाणुओं का आकस्मिक संयोग तथा अन्य शक्तियों का व्यर्थ खेल होने के स्थान में एक ही सत्ता, एक ही द्रव्य, एक ही जीवन, एक ही मन तथा, अन्ततः, एक ही आत्मा है। निस्सन्देह केवल बाह्य रूपों में ही, वैचित्र्य, द्वन्द्व तथा विरोध पाया जाता है, वास्तविक रूप से कभी नहीं। बाहिर वैचित्र्य है, भीतर ऐक्य; बाहिर विरोध है, भीतर सामंजस्य; बाहिर परिवर्तन है, भीतर एकरसता; बाहिर गति है, भीतर स्थिति; बाहिर कलरव है, भीतर संगीत; बाहिर मरण है, भीतर अमृत है।

किन्तु मानव जिज्ञासा यहीं पर समाप्त नही हो जाती, वह तो समाज में भी ऐक्य की खोज करता है और उसकी अन्तः-अनुभूति तब तक सफल ही नहीं हो पाती, जब तक कि वह प्रकृति तथा समाज के साथ अपना आत्मैक्य नहीं देख पाता।

ऊपरी दृष्टि से समाज की नींव न्याय पर प्रतीत होती है,

किन्तु वस्तुतः इसकी अचल नींव आत्मैक्य पर है जिसका दूसरा नाम प्रेम है। जहां यह अनुभूति पाई जाए, वहां निजी अधिकारों की रक्षा तथा बाह्य शक्ति के प्रयोग का प्रश्न ही नहीं उठता। न्याय कहता है कि अपने पड़ोसियों के साथ अपने आप-सा वर्ताव करो। प्रेम अनुभव करता है कि पड़ोसी उसका अपना ही दूसरा रूप है, अन्य नहीं। हमारा लेन-देन अपने आप से ही हुआ करता है। हम भलाई करते हैं तो अपने से और बुराई करते हैं तो वह भी अपने से ही। क्योंकि चतुर्दिक् आत्म-प्रसार ही तो है।

ऊपर की दृष्टि से देखने पर समाज में भिन्नता तथा विरोध ही देखने में आएँगे। हमारे धर्मसम्प्रदाय, मान्यताएँ, अनुष्ठान, परम्पराएँ, सम्पत्ति, वेष, आचार, योग्यता, रूप, स्वभाव, रुचि, अलग-अलग मण्डलियाँ, दल, जाति, वंश भिन्न-भिन्न हैं। एक ही रक्त के, एक ही छत के नीचे सोने वालों में बड़ा भेद देखा जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अनुपम, अतुल है। जिस प्रकार किसी पदार्थ के परमाणु एक दूसरे को स्पर्श नहीं कर पाते, इसी प्रकार दो व्यक्ति भी अपनी अपनी सृष्टि में जीते हैं, परम मित्र भी कई बातों में एक दूसरे को छू नहीं पाते। प्रत्येक व्यक्ति अपने गम्भीरतम स्वरूप में नितान्त अकेला है। जीवन की परिधि पर सभी का सब के साथ मेल-जोल और इसके केन्द्र पर नितान्त अकेलापन पाया जाता है।

किन्तु समाज में इतना भेद तथा विरोध होने पर भी यह सभी कुछ ऊपर का ही है, इसकी तह में ऐसा ऐक्य विद्यमान है, जो प्रत्येक व्यक्ति, वस्तु व क्षणिक घटना को एक अनन्त समग्र के साथ अविछेद्य रूप से युक्त करता हुआ सभी वंशगत, जातीय तथा व्यक्तिगत भेदों के होने पर भी सभी को सर्वोदय के लिए मिलाने वाला है।

संसार में एकता की ओर क्रमशः जागृति हो रही है। महायुद्धों ने जागृति की गति को अभूतपूर्व तेज़ी दे दी है। जो प्रगति सहस्र वर्ष में हो पाई थी, वह शताब्दी में और जो शताब्दी में होती थी, वह एक वर्ष में और एक वर्ष में होने वाली प्रगति एक मास में होने लगी है। शीघ्र ही प्रत्येक व्यक्ति अपने को पृथिवी का नागरिक तथा मानव समाज का सदस्य मानने लगेगा। आज हम अन्तर्राष्ट्रीय युग में प्रवेश कर रहे हैं और वह दिन दूर नहीं, जबकि संसार में विश्व राज्य स्थापित हो जायगा।

अपने अपने अलग-थलग व्यक्तित्व का भ्रम मानव मन की ससीमता का फल है। आपाततः भेद बाह्य स्थितियों द्वारा उत्पन्न होते हैं। जीव-विद्या की दृष्टि से तो सभी व्यक्ति तथा सभी जातियाँ एक ही मानव रक्त की निरन्तर बहती धारा में विभिन्न बुद्बुदों के तुल्य हैं।

वर्तमान युग में विभिन्न जातियों के मेलजोल तथा परिचय से सिद्ध हो रहा है कि सभी जातियाँ एक दूसरी से अलग तथा अज्ञात रही हुई भी एक ही प्रकार के उच्च उद्देश्यों के लिए समान प्रणालियों से काम करती रही हैं, यद्यपि किसी ने शीघ्र और किसी ने धीरे-धीरे उन्नति की है। अलग-थलग रहते हुए और देश-काल में अन्तर होने पर भी विभिन्न व्यक्तियों ने जगत् तथा मूल सत्ता के सम्बन्ध में एक ही प्रकार के अनुभव प्राप्त किये हैं और उनके दिलों में वही के वही प्रश्न उठते चले आए हैं।

वस्तुतः, मानव मन एक है, इसी लिए सभी लोगों के एक से विचार, नियम अथवा तर्क-प्रणालियां हैं। व्यक्तिगत

तर्कप्रणाली पागलपन का चिह्न है। सभी जनगण मानो एक ही महान् मानव मस्तिष्क के कोष्ठ हैं।

राजनैतिक दृष्टि से अब सभी राष्ट्रों में एक सम्मिलित राज्य का भाव उत्पन्न होने लगा है। इस आणविक युग में तो विश्व-राज्य अनिवार्य है। विज्ञान सभी का एक है, कला के रूपों में प्रभेद होते हुए भी मौलिक तत्त्व वही के वही हैं। सभी साहित्य सत्य, सौन्दर्य, प्रेम तथा भलाई को अपना लक्ष्य मानते हैं। धर्म का तुलनात्मक अध्ययन बतलाता है कि सभी धर्मों की आत्मा, उनकी उमंगें, समस्याएँ तथा उनके चरम उद्देश्य भी वही के वही हैं। मानव का अदृश्य, अनश्वर तथा सम्मिलित धन एवं सच्चाई, भलाई, सौन्दर्य सभी व्यक्तियों तथा जातियों की वह विरासत है, जो बांटने से घटने के स्थान में उल्टी बढ़ती है।

प्रत्येक जाति के बच्चे समान सुविधाओं की प्राप्ति पर समान रूप से बौद्धिक तथा नैतिक उन्नति कर सकते हैं। पक्के अपराधी भी उपयुक्त परिस्थिति में अनुकरणीय रूप से भद्र तथा संवेदनशील हो जाते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से लोगों में भेद के स्थान में अधिकतर समानता पाई जाती है। यथा सभी लोगों में बोलने, सोचने, आविष्कार करने, अर्थ समझने, मिलजुल कर रहने, काम करने, नियम बनाने, जीवन की चरम समस्याओं पर विचार करने तथा अतीत की स्मृति तथा भावी कथन की न्यूनाधिक योग्यता पाई जाती है। प्रत्येक व्यक्ति में आत्मावगति तथा मूल्य जगत्, अमरत्व, नित्यता, असीमता, समग्रता तथा परमसत्ता के सम्बन्ध में सुप्त व प्रखर इन्द्रिय पाए जाते हैं।

किन्तु मानवता के एकत्व का जो ऊपर वर्णन हुआ है, वह

केवल बौद्धिक है, आध्यात्मिक नही, इसका प्रभाव मस्तिष्क पर ही परिमित है, हृदय पर नहीं। आध्यात्मिक एकत्व दर्शन वाद-विवाद के स्थान में अन्तरानुभूति का तत्त्व है।

जिस प्रकार व्यक्ति की अनेक प्रकार की तथा प्रति क्षण परिवर्तनशील 'अहम्' की तह में एक तथा नित्य 'अहम्' विद्यमान रहती है, इसी प्रकार समस्त मानव जाति की अन्तरात्मा एक है जो सभी व्यक्तियों में ओत-प्रोत है। आपातत: अनेक है, भीतर एक है, बाह्य वैचित्र्य में ही तो जीवन की शोभा हैं। आन्तरिक ऐक्य के आधार पर ही प्रत्येक प्रकार का संसर्ग सम्भव होता है।

बाह्य दृष्टि से सभी व्यक्ति एक दूसरे को बहिष्कृत करते हैं, किन्तु अन्तर्दृष्टि से देखा जाए तो प्रत्येक के भीतर प्रत्येक और सब के भीतर सब हैं। प्रत्येक अंश में समग्र विद्यमान है। विभिन्न व्यक्ति, वस्तुत: एक ही जीवन के विभिन्न केन्द्र हैं, बाहिर कोई सदृश्य नहीं, अन्तर् कोई भेद नहीं। सभी पदार्थ एक ही सत्ता, सभी घटनाएँ एक ही शक्ति और सभी आत्माएँ एक ही अन्तरात्मा हैं। अलग-थलग कोई पदार्थ, कोई घटना, कोई जीवन, कोई आत्मा व अस्तित्व नहीं है। परिछिन्न तथा भ्रमात्मिक अहंभाव ही संसार में दारुण, रक्तपात, स्वार्थपरता, विद्वेष, घृणा, गर्व, अन्याय, लोभ तथा अपराध का हेतु होता है, यही भ्रम ही संसार को नरक बनाए हुए है।

इस क्षुद्र अहंभाव से मुक्ति ही इसी ससार का स्वर्ग बना सकेगी और यही मानव धर्म है जो सिखलाता है कि समस्त जगत् में एक सत्ता मूर्तिमान हो रही है, पृथक् सत्ता एक मानसिक भ्रम है। हम सभी एक ही जीवित समग्र के अंग हैं।

हमारा जीवन उद्देश्य भी एक है कि हम अपनी सभी शक्तियों को समुन्नत करके सर्वोदय के निमित्त लगा दें। केवल व्यक्तिगत भलाई तथा मुक्ति के भ्रम से मुक्त हो जाएँ—यही यथार्थ जीवन मुक्ति है। यह भ्रम अज्ञान जनित है कि यदि हम दूसरों के साथ आत्मैक्य के भाव से वर्ताव करेंगे, तो वे हमें अपने पशु बना लेंगे। किन्तु यह आशंका निराधार है, क्योंकि जब हम औरों के साथ सर्वात्मभाव से वर्ताव करेंगे, तब उनके भीतर भी यह भाव जागृत होकर हमारे साथ प्रेम करना सिखला देगा। परन्तु यह प्रयोग आत्मविश्वास चाहता है।

सर्वप्रथम तो हमें अपने में ऐक्य अनुभव करना होगा, अन्यथा बाहिर कहीं एकता दृष्टिगोचर न हो सकेगी। आत्म-दर्शन पाने पर समस्त सृष्टि ही आत्मरूप दिखाई देती है। यह आत्म-जागृति संसार में नव-जीवन तथा नव-शक्ति का संचार करेगी। ऐसे ही जागृत पुरुषों का कथन है—

"मानव मात्र का हृदय तथा आतमा एक होने पर 'मेरा और तेरा' की कटुता दूर हो जाती है। वह मेरा है, मैं अपना भाई हूँ और मेरा भाई मेरा अपना आप है। मैं अत्युत्कृष्ट के साथ एक हूँ तथा अतिनिकृष्ट के साथ भी एक हूँ।"

(वाल्टविटमैन)

"बड़ा ही नहीं बल्कि छोटा भी हूँ।
न महदूद कीजेगा सब मैं ही हूँ॥" (स्वामी राम)

१४. मानव तथा ईश्वर

संसार भर के ईश्वरवादी मत धर्म के प्रश्न को मानव के स्थान में ईश्वर से आरम्भ करते हैं। वे प्रथम ईश्वर सत्ता तथा ईश्वरीय गुणों की कल्पना करके फिर उनसे धर्म के सिद्धान्त स्थिर किया करते हैं। किन्तु यह पद्धति अवैज्ञानिक है। क्योंकि तत्त्वानुसन्धान के लिए अज्ञान से ज्ञात को आने के स्थान में ज्ञात से अज्ञात की ओर जाना है। किन्तु प्रचलित पद्धति सत्य तथा जीवन उत्स की अपने आप से बाहिर कल्पना करती है। हमें अपनी आँखों से देखने तथा अपने मस्तिष्क से सोचने और परखने के स्थान में अन्धानुवर्तन का उपदेश करती है।

किन्तु अब विज्ञान शिक्षा हमारे दृष्टिकोण में परिवर्तन ला रही है। जावन तथा ज्योति का उत्स मानव से बाहिर नहीं, अपितु इसकी सत्ता केन्द्र में ही है और मानव जिस प्रकार भौतिक जगत् को बाह्यकरण द्वारा ही जान पाता है, इसी प्रकार वह अपने आध्यात्मिक इन्द्रिय द्वारा उस नित्य, दिव्य, अनन्त तथा जीवन्त सत्ता को अनुभव करता है जो समस्त सत्ता, जीवन, शक्ति, ज्ञान, सौन्दर्य तथा आनन्द का मूल उत्स है।

ईश्वर को किसी युक्ति द्वारा सिद्ध करना व्यर्थ है, क्योंकि जिसे सिद्ध किया जाए, वह पर-प्रकाश होने से ईश्वर ही न होगा। सूर्य को किसी पार्थिव दीपक से और ब्रह्म को किसी मानसिक क्रिया से सिद्ध नहीं किया जा सकता। जो सभी का

प्रकाशक है वह प्रकाश्य नहीं हो सकता। यदि हम किसी अकाट्य युक्ति से ईश्वर को सिद्ध भी कर पाएँ, तो वह एक अनुमानित सिद्धान्त मात्र ही होगा न कि एक निरालम्ब, स्वप्रकाश, जीवित सत्ता; एक मान्यता ही होगी न कि जीवन-धर्म। इसलिए यहां पर प्रश्न उठता है कि हम परम सत्य का अनुभव कैसे करें।

यदि वह एक जीवन्त तथा नित्यवर्तमान सत्ता है तो उसे अतीत में क्यों ढूंढा जाए और उसके ज्ञान के लिए भूतपूर्व पैगम्बरों से क्यों पूछा जाए। जबकि बाह्य तथा अन्तर् सृष्टियों के द्वार हमारे लिए सदा खुले हैं, हम क्यों न इनके भीतर ही अपनी सत्ता तथा अपने मन आदि का अध्ययन करें? क्या वह ईश्वर जो अतीत में तथाकथित पैगम्बरों के साथ वार्तालाप करता आया है, हम से रूठा हुआ है? प्राचीन ऋषियों की प्रणाली वैज्ञानिक थी, उन्होंने नर में ही नारायण, ससीम में ही असीम, अनित्य में ही नित्य तथा रूप में ही अरूप का साक्षात् दर्शन पाया था और कभी अन्धविश्वास का उपदेश न दिया था। उनकी यही शिक्षा थी कि "आत्मानं विद्धि", "आत्मा ज्योतिषां ज्योतिः" तुम्हारे भीतर ही नित्य विद्यमान है, उसी के प्रकाश से ही सभी कुछ प्रकाशित हो रहा है, उसी के होने में ही हम सब का होना और जीना है, वह किसी से भी दूर व बाहिर नहीं, सभी का अपना आप है। अपने होने, अपने जीने में ही उसे पाकर सभी में उसका साक्षात् दर्शन करो।

बाह्य अनुष्ठान, पूजा-पद्धति तथा सिद्धान्तों का नाम धर्म नहीं, अपितु अपने भीतर ही आत्मतत्त्व का साक्षात् करके उसमें

सर्वभूत के साथ अपना एकत्व अनुभव करके उसके अनुसार जीने में है।

ईश्वर कोई व्यक्तिगत व मानवानुरूप सत्ता नहीं, अपितु हमारी अपनी ही शक्यता व ईश्वरत्व है और उसे अपने आप में पाना तथा अभिव्यक्त करना ही यथार्थ जीवन व मानव धर्म है। ईश्वर एक बाह्य अन्य सत्ता के रूप में बड़े से बड़ा भ्रम है, किन्तु अन्तरात्मा के रूप में परम सत्य है। उसे विज्ञान व दर्शन द्वारा नहीं पा सकते, क्योंकि वह सबसे प्रथम प्राप्त और सबसे बढ़कर प्रकट है।

यदि ईश्वर के लिए कोई उपयुक्त नाम हो सकता है तो वह "अहमस्मि" (मैं हूँ) है। क्योंकि वह सब का परम (गम्भीरतम) आत्मा (अपना आप) है।

जीवन के गम्भीरतम तत्त्व जो अब तक जाने गए हैं,ये हैं।

(क) केवल एक ही सत्ता, जीवन, शक्ति विद्यमान है, जिसके अनेक नाम कल्पित किए गए हैं।

(ख) सर्वभूत उसी एक अद्वैत सत्ता का विभिन्न रूप है। और न कभी था, न है और न हो सकता है।

(ग) हमारी पृथिवी पर परम सत्य की उत्कृष्टतम अभिव्यक्ति मानव है और केवल वही अपने आप व परम सत्य को जान-पहचान सकता है।

(घ) वही एक सत्ता ही जड़ पदार्थों में सोती हुई, वनस्पति में कुछ जागती हुई, पशुवर्ग में चेतन, मानव में स्वचेतन तथा परिपक्व व्यक्तियों में पूर्णतः जागृत हो रही है।

नर तथा नारायण दो विभिन्न सत्ताएँ नहीं हैं। आत्मा तथा परमात्मा एक सत्ता के ही दो नाम हैं। "परमात्मा के

साथ आत्मा की पूर्ण एकता का ज्ञान वह गम्भीरतम ज्ञान है जो मानव प्राप्त कर सकता है। जब वह जान लेता है कि उसके भीतर जो जीवन तथा शक्ति है, वही दिव्य जीवन तथा शक्ति है, तो उसे अपने चतुर्दिक् कोई भी ऐसी बात दिखाई न देगी जो उसकी समझ से बाहिर हो।

कहा जाता है कि वह सूर्य और हम किरणें, वह अग्नि हम विस्फुलिंग, वह सागर हम बिन्दु। किन्तु यह दृष्टि भी भौतिक है, आध्यात्मिक नहीं। आध्यात्मिक दृष्टि से तो किरण में ही सूर्य, बिन्दु में ही सागर, अंश में ही समग्र, जीव में ही ब्रह्म सम्पूर्णतः विद्यमान है। जीवित तथा मानसिक सत्ता में सदैव समग्र अपने प्रत्येक अंश में, अखण्ड रूप में पाया जाता है। इसी लिए तत्त्वदर्शियों ने 'तत्त्वमसि' (वह तू ही है) का संवाद देते हुए 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) का मन्त्र प्रदान किया है।

प्रायः यह माना जाता है कि एक परम पुरुष हमारे ऊपर तथा सम्मुख मौजूद है, जिसे किसी न किसी साधना, आराधना, प्रार्थना, बलिदान आदि से अपनाना अथवा सदैव उससे भयभीत रहना होगा। किन्तु यह धारणा अज्ञानजनित होने के अतिरिक्त ईश्वर से हमारा भेद तथा लोगों में फूट उत्पन्न करती है।

ईश्वर की प्राप्ति के लिए इधर उधर दौड़ने की आवश्यकता क्या है? अपने ही चैतन्य को इतना जगाओ तथा फैलाओ, कि 'मैं' और 'तू', 'यह' और 'वह' की सीमाएँ टूट जाने पर कुछ भी बाहिर न रहकर सभी कुछ अपना आप ही प्रतीत होने लगे। द्वैत भ्रम लेशमात्र

भी न रहे। बस, फिर जो कुछ भी है, अनन्त ब्रह्म है और सारा विश्व उसी का स्वाभाविक तथा परम अद्‌भुत चमत्कार है। ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, दाएँ-बाएँ, अन्दर-बाहिर आप ही आप है।

प्रतिबिम्ब बाहिर है, प्रतिबिम्ब्य भीतर, संगीत देशकाल में है, संगीतकार अन्तर् है, बाहिर अंश प्रतीत होते हैं समग्र अपने भीतर ही जीता हुआ सर्वदा, सर्वत्र, सर्वतः, सर्वरूप में सर्व को प्राप्त है। मानव तथा ईश्वर एक ही अखण्ड सत्ता के रूप हैं—

'·आत्मैव केवलं सर्वम् ।"

---

१५. समाज की भीतरी एकता

जिस प्रकार एक सुपरिपक्व पुरुष के बल, विज्ञता तथा नीति का आविर्भाव बाल्यावस्था की दुर्बलता तथा निष्पाप पाशविकता से ही हुआ करता है, इसी प्रकार मानवता का आविर्भाव भी निम्न श्रेणी के जीवन से हुआ है। यदि मानव आरम्भ से शुद्ध मानव उत्पन्न होता, तो न केवल उसमें कोई बुराई न होती, प्रत्युत उसमें भलाई का आविर्भाव भी असम्भव ही होता।

जिस प्रकार वृक्ष का जीवन यही है कि वह पृथिवी से उत्पन्न होकर निरन्तर उससे ऊपर उठता, उसके बन्धन तथा अन्धकार से मुक्ति लाभ करता तथा सूर्य-लोक का शोषण करता हुआ चारों ओर अपना सौरभ और सौन्दर्य लुटाता रहे। इसी प्रकार मानव जीवन ने भी पाशविकता से मुक्त तथा ऊपर उठकर अपने बौद्धिक, नैतिक, कलात्मिक तथा आध्यात्मिक गुणों से संसार को चिन्मय तथा स्वर्गमय बनाना है। इसमें तनिक सन्देह नहीं कि अब मानव अनेक भ्रमों से मुक्त होकर अनन्त सत्य की झलकें पाने लगा है। अत्याचार तथा अन्याय कई रूपों में मिट चुके हैं। मानव प्रेम जातिगत तथा राष्ट्रीय सीमाओं को पार करने लगा है और आत्मोत्सर्ग की भावना भी बढ़ रही है। किन्तु अब भी विश्वयुद्ध के बादल आकाश को आवृत करते हुए सभी को भयत्रस्त कर रहे हैं और यह आशंका व्यापक रूप धारण करती जा रही है, कि किसी भी क्षण युद्ध का विस्फोट होने पर समस्त मानव जाति ही भस्मीभूत हो सकती है।

यदि हम अतीत काल पर दृष्टिपात करें, तो मानव इतिहास, भीषण संग्रामों, वर्ण-संघर्षों, दारिद्र्य, अविद्या, महामारियों, स्वार्थ, लोभ, विद्वेष, क्रोध, घृणा, अत्याचार, अन्याय, दुर्भाव, ईर्ष्या, सन्देह, प्रतियोगिता से भरपूर दीख पड़ेगा और स्वभावत. यह प्रश्न उठेगा कि क्या मानव जगत् की यह अवस्था स्वाभाविक, स्थायी तथा असाध्य है और क्या मानव स्वभाव अपरिवर्तनीय है ? नहीं, कभी नहीं। वर्तमान तथा अतीत काल की सभी खरावियों का मूल कारण एक भ्रम है, जो अब तक मानव मन पर प्रबल होकर जीवन को कटु बनाता हुआ संसार को नरक धाम बना रहा है। इसी भ्रम का सभी उसी प्रकार से शिकार हो रहे हैं जिस प्रकार कभी बर्बर लोग थे। यह पुरातन भ्रम ही समस्त संसार के अपराधों, पापों, दु:खों तथा क्लेशों की जड़ है और यह किसी बाह्य शैतान के स्थान में मानव की अपनी ही स्वार्थपरता है।

समाज के प्रत्येक अपराध तथा पाप, मानवात्मा के प्रत्येक दु:ख-क्लेश तथा जीवन के मुख-मण्डल पर प्रत्येक कलंक और धब्बे का मूल कारण केवल एक है और वह है—**व्यक्तिगत व सामूहिक स्वार्थपरता**।' यह स्वार्थपरता ही है जो हमें दूसरों से विच्छिन्न करती हुई हमारे क्षुद्र अहं की संकीर्ण कारागृह को अपना इष्ट-मन्दिर बनाए हुए है। यदि संसार से स्वार्थ मिट जाए, तब तो निश्चय ही मानवता का पुष्प खिलकर समस्त संसार को ही महका देगा। सभी महानुभावों ने स्वार्थ को ही सभी खरावियों की जड़ तथा प्रेम को ही सभी सद्गुणों का राजमुकुट बतलाते हुए हमें प्रेम, सहानुभूति तथा आत्मोत्सर्ग द्वारा स्वार्थ को जीतने का ही उपदेश दिया है। किन्तु अभी तक तो स्वार्थ का बाज़ार ही गरम चला आता है। उनके डाले

हुए बीज तभी तक अंकुरित न हो सकेंगे, जब तक कि स्वार्थ का मूल उत्पाटन न होगा। प्रेम, सहानुभूति तथा आत्मोत्सर्ग के दैवी भाव स्वार्थ की तीव्रता को तो घटा सकते हैं, किन्तु इसका उन्मूलन नहीं कर पाते। अतः, सर्वप्रथम हमें स्पष्टतः यह जानना होगा कि स्वार्थ की जड़ कहाँ है। स्वार्थ की जड़ क्षुद्र 'अहम् भाव' में है, जिसका अर्थ है अपने को दूसरों से अलग-थलग, एक स्वतन्त्र सत्ता निश्चय करना और स्वार्थ का अर्थ भी अपने को दूसरों से नितान्त पृथक् जानकर अपनी निजी मांगों की पूर्ति के लिए अन्य सभी को इसका साधनमात्र जानना। यदि वैयक्तिक सत्ता स्वतन्त्र होती, तब तो स्वार्थ-परता एक सहज प्रवृत्ति समझी जाती और जीवन में आप पहले, कोई अन्य पीछे का व्यवहार भी युक्तियुक्त होता। किन्तु यदि यह जगत् एक अविभाज्य समग्र है, तो समस्त (विराट्) जगत् ही हमारा प्रेमास्पद है और इस समग्र में सभी के लिए उचित स्थान है, यहां तक कि क्षुद्र 'अहं' के लिए भी। क्योंकि यह भी तो समग्र का एक जीवन केन्द्र ही तो है। आत्म-सम्मान कर्त्तव्य है और आत्म-ग्लानि एक घृणित पाप। प्रेम एक अविभाज्य तत्त्व है। इसमें 'अहं', 'त्वं' का विच्छेद नहीं। अपने आप से प्यार करने वाला ही सब के साथ यथार्थ प्यार कर सकता है, अन्यथा वह स्वस्थ प्यार नहीं होता।

निरहंकारता का अर्थ निज सत्ता का अस्वीकार होने के स्थान में केवल इसके पार्थिक्य की अस्वीकृति है। अहंकार भी सफल हो जाता है, जबकि यह "सर्वभूतहिते रतः" अर्थात् विश्व प्रेम का केन्द्र हो जाए। केन्द्र से च्युत होने में कोई आध्यात्मिकता नहीं है। 'अहम्' तो एक अत्यन्त रहस्यपूर्ण तत्त्व है, अविद्याजनित भ्रम नहीं। इसके बिना दायित्व ही

कहां होगा ? अहंकार मिटाने का अर्थ यही है कि हम सब के प्रेम में अपने को भूलकर अपनी समस्त शक्तियां सर्वोदय में लगाते हुए सब की भलाई में अपनी भलाई देखें। विश्व प्रेम में हम अपना क्षुद्र 'अहं' खो (भूल) कर अपने आप (अन्तरात्मा) को ही उपलब्ध करते हैं। बीज जब तक अपना रूप न खोए, अपने स्वरूप (वृक्ष) को नहीं पाता। 'अहम्' भी एक अमूल्य बीज ही है, जिसके रूप (ससीमता) को खोकर हम ब्रह्म (अपने ही असीम स्वरूप) को पाते हैं।

सच्चा प्रेम व सहानुभूति वही है जो निस्स्वार्थ हो। 'अहम्-भाव' इसका केन्द्र तो हो, किन्तु परिधि न हो जाए। सभी में अपना आप और अपने में सभी दिखाई दें। ऐसा प्रेम अहैतुक तथा सहज होता है, क्योंकि यह प्रतिक्रिया अपने लिए फल पर दृष्टि नहीं रखती।

हमें 'अहम् भाव' को मिटाने के स्थान में इसकी ससीमता का निराकरण करते हुए "यह मैं हूँ" से "सर्व मैं हूँ" की अनुभूति में प्रवेश करना होगा।

इस आत्मानुभूति को आत्म-चिन्तन से प्राप्त किया जा सकता है और आत्म-चिन्तन की यथार्थ विधि नकारात्मक है, सकारात्मक नहीं। क्योंकि आत्मा चित्त वृत्ति का विषय नहीं हो पाता। जब तत्त्व विचार द्वारा 'अहं', 'त्वं' का भ्रम मिट जाएगा, तब सब कुछ ही अपना आप अनुभव होने लगेगा। जब हम कुछ नहीं होते और न कुछ होना व अपने लिए पाना चाहते हैं, तब अपना आप ही शेष रह जाता है। कुछ भी बन कर आत्मलाभ नहीं हो सकता और जो कुछ न होने पर उसी प्रकार सहज हो जाता है जिस प्रकार कि रोग निवृत्त होने पर स्वास्थ्य लाभ।

यह संसार क्यों दुःख रूप हो रहा है ? केवल इसलिए कि हम अपने को एक दूसरे से पृथक् मानते हुए पारस्परिक प्रतियोगिता में लगे हुए सर्वोदय के स्थान में अपनी अपनी पृथक् भलाई को ही जीवन-उद्देश्य मान रहे हैं। बच्चों का खिलौनों से खुशी-खुशी खेलना एक स्वाभाविक बात है। किन्तु जब उनके मनों में स्वत्व की भावना उदय हो जाए, तब उनमें लड़ाई-झगड़ा आरम्भ होकर उसी खेल को ही दुःखमय बना देगा।

हम ने अभी तक सहकारिता का जीना सीखा ही नहीं, यह संसार तो स्वर्ग की सामग्री है, किन्तु हम खेल के स्थान में संग्राम में व्यस्त हो रहे हैं। मेरी मुद्रा, मेरे वस्त्र, मेरी स्थिति, मेरा पद, मेरे अधिकार, मेरा कारोबार, मेरी उन्नति, मेरी सफलता, मेरी नेकनामी, मेरी ख्याति, मेरी मुक्ति के भ्रम में फंसकर परस्पर शत्रु बन रहे हैं। कारखानों में साम्प्रदायिक झगड़ों तथा विभिन्न राष्ट्रों में युद्ध का मौलिक कारण ससीम 'अहं', 'मम' की भ्रान्ति ही तो है।

समाज में एकता तभी स्थापित होगी जब कि सर्व-साधारण, धनी, दरिद्र, शिक्षित, अशिक्षित, पूंजीपति, श्रम-जीवी, मालिक और नौकर "मैं और मेरा" के स्थान में "हम और हमारा" की परिभाषा में सोचने लगेंगे और यह समय तभी आएगा जब कि हम स्पष्टतः जान लेंगे कि सभी जीवों की आत्मा एक है। हम जो कुछ भी भलाई व बुराई करते हैं, वह वस्तुतः अपने साथ ही करते हैं। औरों की भलाई में ही अपनी भलाई और किसी की बुराई में अपनी ही बुराई है।

कोई व्यक्ति भी अलग-थलग रूप से नहीं जी सकता। वह

सभी के साथ निकट व दूर का सम्बन्ध रखता है, हम सभी एक दूसरे पर निर्भर हैं। कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखता। व्यक्तित्व एक सामाजिक उपज है। समाज से अलग इसका अस्तित्व ही नहीं। मुक्ति तथा आध्यात्मिकता भी व्यक्तिगत सत्ता नही रखते, भलाई-बुराई भी सामाजिक उत्पादन हैं। कोई व्यक्ति भी अपने भले व बुरे कामों के लिए सम्पूर्णतया जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। एक ही सामाजिक शरीर के विभिन्न अंग होने के नाते हम प्रत्येक अपराध, अन्याय, प्रत्येक बुराई के लिए उत्तरदायी हैं। कर्म तथा कर्मफल का अलग-अलग खाता नहीं है और जिस प्रकार पाप व अपराध पृथक् नहीं हैं, हमारी मुक्ति भी एक दूसरे से अलग नहीं है।

कभी माना जाता था कि हम सभी पापी तो हैं,किन्तु हममें से कई क्षमा किए गए हैं। पाप में हम सभी एक से हैं, किन्तु परित्राण में नहीं। लेकिन अब समझा जा रहा है कि पाप तथा मुक्ति सामाजिक उत्पादन है। यदि व्यक्तितव तथा चरित्र कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखते, तो अलग-थलग परित्राण भी एक अर्थहीन शब्द ही है। यदि कोई भी कभी विस्तृत हो सकता है तो समाज के साथ ही हो सकता है। कोई व्यक्ति भी पूर्णतः चरित्रवान्, प्रसन्न, स्वतन्त्र व स्वस्थ नहीं हो सकता जब तक कि सभी ऐसे न हो जाएँ।

आजकल प्रत्येक व्यक्ति तथा मण्डली के लिए न्याय की माग हो रही है। इसका अर्थ यह है कि सामाजिक 'अहम्' सब के भीतर जागृत हो उठा है, किन्तु इस जागरण का यह अर्थ नहीं कि सब का मत एक होगा। इस प्रकार की एकता तो समाज के लिए घातक होगी। सामाजिक एकता का यही अर्थ है कि हम एक दूसरे के विभिन्न अंग होने से जो बात

किसी एक के लिए हितकर है वह सभी के लिए हितकर है। हम सभी इकट्ठे ही या तो ऊपर उठते हैं या नीचे गिरते हैं या आगे बढ़ते हैं या पीछे हटते हैं। एक ही सामाजिक पिण्ड के विभिन्न अंग होने के नाते हम एक दूसरे से अलग होकर जी ही नहीं सकते। यह सामाजिक सत्ता भी तब तक पूर्णता लाभ न कर पाएगी, जब तक इस का प्रत्येक अंग अपनी उच्चतम शक्यता को मूर्त्तिमान् न कर पाए।

पारिवारिक एकता सामाजिक एकता का बहुत अच्छा दृष्टान्त उपस्थित करती है। गृह के सभी सदस्य प्रेम, अभिवादन सम्पत्ति, सहकारिता, अभ्युदय तथा भलाई में एकात्मा हुआ करते हैं। अब समाज में भी ऐसा ही होना होगा, अन्यथा निस्तार नहीं। सहकारिता प्रतियोगिता का स्थान ले लेगी।

किन्तु समाज में रोग से आरोग्य, निद्रा से जागरण, दासता से स्वातन्त्र्य और विद्वेष से प्रेम की ओर होने वाला परिवर्त्तन किसी नए नियम, संगठन, नवीन आर्थिक, औद्योगिक व्यवस्था वा राज्य को अल्पसंख्यक से बहु संख्यक के हस्तार्पण करने पर न हो पाएगा।

अब हमें एक नई आत्मा की आवश्यकता है जो हमारे जीवन के गुरुत्व केन्द्र को अंश से समग्र में स्थानन्तरित कर दे। तब ही हम व्यक्तिगत धन्धों में डूब कर तथा समाज के साथ अपने एकत्व को भूले हुए एवं केवल निजी सुरक्षा के लिये ही न जीते हुए समाज के उत्कृष्ट तथा जीवन्त शरीर में स्वोचित स्थान पा कर अपनी विशेष सेवा द्वारा जीवन का सर्वोत्कृष्ट आनन्द प्राप्त कर सकेंगे।

यह संसार अब तक वह स्वर्ग क्यों नहीं बन सका जिसे मानव हृदय चाहता है? केवल इस लिये कि हम सर्वात्मैक्य का तत्त्व जान कर भी अपने व्यक्तिगत जीवन को सामूहिक जीवन के अनुरूप नहीं बना पाए। इसी लिये हमारा यह जीवन मुक्तिस्वरूप नहीं हो सका, हमें यहीं अपना घर महसूस नहीं होता, नित्य वर्तमान में तुष्टि नहीं और हम अपने भीतर ऐसी शून्यता अनुभव करते हैं जिसे सारी बाह्य सृष्टि भर नहीं सकती।

१६. धर्म एक है, मत अनेक

धर्म की नींव हमारी उस मानव इन्द्रिय पर है, जो हमारी साधारणतः विश्व से तथा विशेषतः मानवता से एकत्व कराती हुई सब से प्रेम तथा सब की भलाई करने के लिये प्रेरित करती है। इसी इन्द्रिय द्वारा ही मानव यथार्थतः मानव होता है, अन्यथा वह पशु ही रहता है।

जिस प्रकार विज्ञान प्राकृतिक सत्य है, इसी प्रकार धर्म मानविक सत्य है और इसी लिए धर्म मानवता के साथ सह-अस्तित्व का सम्बन्ध रखता है। धर्म हमें एकता तथा विकास की ओर ले जाता है। इस का कार्य सुलाने वा विरक्त बनाने के स्थान में जगाना तथा जीवन में अभिरुचि उत्पन्न करना है। वह धर्म जो विच्छेद तथा लय का उपदेश करे, धर्म नहीं, मत है।

धर्म स्वतःसिद्ध तथा स्वयंज्योतिः है, मानव-रचित नहीं। अनेक मत मानव कल्पनाओं के फल हैं।

धर्म स्वयं जीवन है, जीवन का साधन नही। यह जीवन सफल करता हुआ इसी लोक को स्वर्ग बना सकता है।

जैसे स्वास्थ्य के नियम तो सर्वत्र समान है, परन्तु रोग तथा उन की औषधियां अनेक हैं। इसी प्रकार धर्म एक, सनातन, शाश्वत तथा व्यापक है, परन्तु मत अस्थायी तथा स्थानीय होते हैं। धर्म सभी को मिलाता है, परन्तु मत विभाजनकारी होते हैं। मत मानवैक्य में कठोर तथा हठीली बाधा है। धर्म उदार

लोचदार, प्रगतिशील होता हुआ भविष्य की ओर देखता है। मत संकीर्ण, कठिन तथा पश्चात्‌दर्शी होता है।

मतों की अनेकता भी कोई बुरी बात नहीं है, यदि मतों वाले अपने अपने मत को अन्तिम, एवं अभ्रान्त सच्चाई का एक मात्र ठेकेदार होने का दावा छोड़ कर अन्य मतों के साथ भी परस्पर गुण-ग्रहण का सम्बन्ध रखें। कोई भी अकेला मत पूर्णता नहीं रखता। सभी मत परस्पर पूरक हैं। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंगों में प्राण की एकता होती है, इसी प्रकार धर्म में सभी मतों की एकता है। सभी मतों में न्याय, सच्चाई, धैर्य, प्रेम, सहानुभूति, करुणा आदि धर्म के मौलिक तत्त्व पाये जाते हैं, और सभी मतों में सम्भ्रम, सम्मान, विस्मय, महत्त्वाकांक्षाएं, पूजा, विश्वास तथा आशा के भाव मौजूद हैं और प्रत्येक धर्म सम्प्रदाय में इस स्वर्ण तत्त्व को माना जाता है कि जो बात तुम्हें अपने लिये पसन्द नहीं, वह औरों के लिये भी पसन्द न करो।

एक बार बोस्टन में एमरसन की उपस्थिति में एक पादरी ने बाईबल पढ़ कर सुनाते हुए यह दावा किया था कि यह शिक्षा और किसी ग्रंथ में नहीं पाई जाती, तो एमरसन ने खड़े हो कर कहा :—

"The gentleman's remarks only prove how narrowly he is read".

इस भद्र पुरुष का कथन बतलाता है कि इस का अध्ययन कितना संकीर्ण है।

वस्तुतः, मानवता का धर्म एक ही है। सभी धर्म-सम्प्रदाय इस मानव धर्म का प्रतिनिधित्व करते है, जो सच्चाई, भलाई तथा सौन्दर्य का अनुसरण सिखलाता है। कोई धर्म सम्प्रदाय

भी सत्य से पूर्णतः वञ्चित नहीं है और न ही कोई सारी सच्चाई का ठेकेदार है। प्रत्येक धर्म सम्प्रदाय कुछ न कुछ सच्चाई तो रखता है, किन्तु उसमें सच्चाई का अन्त नहीं है। किसी विशेष मत में सत्य का अन्त निश्चय करना ही संसार में कट्टरपन की क्षिप्तता उत्पन्न करता है।

वर्तमान साम्प्रदायिक भेद तो काल व्यतिक्रम (Anachronism) हैं, जो विचार शक्ति का गला घोंटने वाले हैं। तथा हमारे धर्म चिह्न तो हमारे लिये ही अपमानकारी हो चले हैं, मानो यह धर्म के ऐसे अंग हैं जो पथरा जाने से परस्पर कोई सम्मान तथा समवेदना ही नहीं रखते।

धर्म का सार यह है कि हमारी पृथिवी पर मानवता का अद्भुत डरामा चल रहा है, जिस के भीतर जातियां तथा व्यक्ति अचिर स्थाई घटनाएँ हैं और हम सब की सत्ता इसी डरामे के लिये है, जुदा-जुदा तथा स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति के लिये नहीं। यह मानव डरामा मानव मूल्यों की जांच, खोज, वृद्धि तथा रचना के लिये है और यह मूल्य—सत्यता, सद्भाव तथा सौन्दर्य हो तो हमारी ही सामान्य सम्पत्ति है। न केवल हमारी वैयक्तिक घटनाएं इसी एक बड़े डरामे के पार्टस् है, प्रत्युत हमारी वैयक्तिक, चेतनाएं भी एक व्यापक चेतना के धरातल पर लहरों के समान होने वाली अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता व उद्देश्य नहीं रखतीं।

हमारा वैयक्तिक जीवन क्या है ? हम इस डरामे के वे अंश हैं जो हमें मिले हैं। हमारा धर्म यही है कि हम अपने-अपने पार्ट को सुचारु रूप से अदा करें और हमारे जीवन का भी यही अर्थ है कि हम एक व्यापक तथा नित्य जीवन के

विभिन्न केन्द्र हैं। वह धर्म सम्प्रदाय जो अपने को एक ही व्यापक धर्म का एक अंग न मानता हुआ अन्य प्रथाओं से अलग-अलग और उन की प्रतियोगिता में जीवित रहना चाहता है, उस का मिट जाना अनिवार्य है, क्योंकि वह एक प्रकार की व्याधि तथा अभिशाप ही तो है।

जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वार्थपरता खो कर अमर जीवन प्राप्त कर सकता है, इसी प्रकार प्रत्येक धर्म सम्प्रदाय अपनी फिर्कादारी की ओर से मिट कर नवीन आध्यात्मिक जीवन पा सकता है, किन्तु आज दुर्भाग्य वश प्रत्येक सम्प्रदाय आत्मरक्षा के लिए यत्नशील हो रहा है।

अभी तक तो धर्म सम्प्रदाय सर्वसाधारण में विभाजन के हेतु होते चले आए हैं, किन्तु अब यही जागृति आने लगी है कि मनुष्य मात्र में बन्धुत्व का अकाट्य सम्बन्ध है, प्रत्येक मानव सत्ता जीवन्त देव मन्दिर है, नर में ही नारायण विराजमान है और समस्त मानवता के साथ आत्मैक्य की अनुभूति ही जीवन-मोक्ष है। जब हम समग्र के साथ सज्ञात भाव से एकत्व अनुभव करते हैं तब सभी और हर एक के साथ स्वभाविक प्रेम हो जाता है। धर्म कोई बाह्य नियम नहीं, प्रत्युत जीवन की गम्भीरतम सच्चाई है।

किन्तु धर्म की एकता का यह अर्थ नहीं, कि समस्त संसार में कोई एक मत स्थापित हो जाएगा। ऐसा होना सम्भव नहीं, 'क्योंकि जब तक लोगों के स्वभाव में प्रभेद है तब तक पूजा की प्रणालियां विभिन्न प्रकार की रहेंगी तथा शिक्षा तथा अनुभव में विचित्रता के अनुरूप सत्य के विषय में धारणाएं भी अनेक प्रकार की होंगी।

यदि सभी लोगों को धर्म के विषय में एक ही प्रकार से विचार तथा आचरण करने को बाध्य किया जा सकता, तब यह संसार के लिए एक उग्रतम विपदा होती । इस प्रकार की एकरूपता हमें अन्तरैक्य से सुदूर ही रखेगी । धर्म तो उस गम्भीरतम अनुभव का नाम है जो प्रत्येक मानव अपने भीतर अनुभव कर सकता है । अतः, धर्म की व्यापकता बाह्य मेल-मिलाप तथा एक रूपता पर निर्भर नहीं करती, प्रत्युत इस तत्त्व पर कि सभी की अन्तरात्मा एक होने से जो व्यक्ति आत्मानुभूति पाता है वह अवश्य ही सब और हर एक के साथ अपना एकत्व अनुभव किए बिना रह नहीं सकता। यथार्थ धर्म हो तो वह हमें प्रत्यक्ष विचित्रता के होते हुए भी मनुष्यमात्र के साथ एक कर देता है ।

धर्म की एकता कभी अनुष्ठान-पद्धति तथा सिद्धान्तवाद में न हो पाएगी, क्योंकि धर्म का सम्बन्ध बाह्य क्रियाओं के स्थान में सर्वान्तरात्मा से है जो सब में एक है, जिस में सब एक है और जिस के बाह्य रूपों में विचित्रता का होना न केवल स्वाभाविक है, अपि तु सौन्दर्य की सामग्री है । धर्म इसी एकत्व दर्शन को प्रत्येक व्यक्ति में जगाता है ।

मानव के लिए केवल एकही धर्म आवश्यक है जो विरासत की वस्तु नहीं । जो दूसरों से मांगा-तांगा होने के स्थान में स्वयं व्यक्ति के भीतर से ही अंकुरित तथा वर्द्धित होता है । प्रत्येक मानव के लिए वही पूजा पद्धति उपयुक्त है, जिसे वह अपनी समस्त सत्ता से स्वीकार करता है और उसे अपने लिए मत स्थिर करने का पूरा जन्माधिकार है । इस प्रकार का स्वातन्त्र्य ही सर्वैक्य का अनुभव उत्पन्न कर सकेगा ।

आने वाले युग का धर्म ऐसा ही होगा। इस में शरीर के विभिन्न अंगों के समान अन्तिम विचित्रता के लिए खुला स्थान होगा और इस में से विचित्रता को मिटाने के स्थान में उन सामान्य तत्त्वों पर बल दिया जाएगा जो सभी धर्म सम्प्रदायों में पाए जाते हैं। हम सब अपने अपने विशेष सम्प्रदाय की जय का नारा लगाने के स्थान में व्यापक तथा शाश्वत सत्य की विजय के लिए सहकारी होंगे। तब ही धर्म, वस्तुतः, इसी संसार में और इसी के लिए एक अभिशाप सिद्ध होने के स्थान में बड़ी से बड़ी बरकत होगा।

---

१७. अध्यात्म एकत्व तथा लोक तन्त्र

कहा गया है कि सभी मानव व्यक्ति स्वतन्त्र तथा समान हैं और यह कथन सच्चाई से खाली नहीं है। किन्तु इस कथन की सत्यता को देखने से प्रथम स्वातन्त्र्य तथा समानता के अर्थ को हृदयंगम करना आवश्यक है।

स्वातन्त्र्य का यह अर्थ कभी नहीं है कि हम जिस प्रकार चाहें करें। ऐसे अनियम तथा विशृङ्खलता का नाम स्वातन्त्र्य नहीं। तब वह कौनसा स्वातन्त्र्य है जो हमारा जन्म-अधिकार है। यथार्थ स्वातन्त्र्य यह है कि मानव स्वविकास तथा अपनेपन के प्रत्येक अंश में मानवता के सम्पादन के लिये स्वछन्द होने पर अपने भीतर अध्यात्म शासन स्थापित कर सकता है और बाह्य घटनाओं तथा उत्तेजनाओं की ओर अपनी प्रतिक्रिया बदलने तथा परिवर्द्धित करने को सक्षम है। मानव सत्ता में एक ऐसी वस्तु विद्यमान है, जो सम्पूर्णतः स्वतन्त्र तथा कारण कार्य के विश्वव्यापी पाश से विमुक्त है, जो अतीत का फल नहीं, जो स्वयं न बदलती हुई आन्तरिक तथा बाह्य घटनाओं को बदल सकती है, जो सभी मानव-शक्तियों को अपने वश में लाकर इन्हें प्रयोग में लाने का स्वभाव सिद्ध अधिकार रखती है, जो हमारी अत्यन्त जटिल सत्ता में एक तथा अखण्ड है तथा हमारी सत्ता की सभी ऊंच-नीच अंशों की स्वामी है और समस्त सत्ता में इस के राज्य की स्थापना ही वास्तविक स्वातन्त्र्य है।

इसी प्रकार ही समानता का अर्थ एकरूपता के स्थान में

यह है कि प्रत्येक व्यक्ति मानव समाज के प्रकाण्ड तथा जीवन्त शरीर के भीतर में अपना विशेष स्थान तथा क्रिया रखता है और इस के लिये प्रत्येक व्यक्ति रूप रूप से अपरिवर्जनीय है। अतः, प्रत्येक व्यक्ति को पूरा अवसर मिलना चाहिये कि वह अपनी शक्यताओं तथा सम्भावनाओं को पूर्णतः विकसित कर पाए। दूसरे शब्दों में प्रत्येक व्यक्ति स्वयं होने का सुःअवसर दे कर अन्यानुसरण के लिये वाध्य न किया जाए और वह भी केवल इस लिये कि वह समाज की सेवा का समुन्नत अंग हो पाए।

अथ च समाज को भी जानना होगा कि जब प्रत्येक व्यक्ति शारीरिक, बौद्धिक तथा नैतिक रूप से यथा-सम्भव पूर्ण होगा, तब वह एक सन्तुलित तथा एकीभूत होने से समाज को गुण-प्रदान करेगा।

संगठन, योग्यता, स्वभाव, प्रवणता, विकास तथा गुणों की दृष्टि से समानता न तो किसी जीवन्त तथा उन्नतिशील समाज में सम्भव है और न वांछनीय है। प्राणिजगत् में समानता का दूसरा नाम मृत्यु है। विचित्रता जीवन का सौन्दर्य है और जीवन विचित्रता का प्राण है। मानव एकता का अर्थ यह है कि समस्त मानवता एक वृहत् शरीर है जिस के भीतर सभी व्यक्तियाँ तथा जातियां शारीरिक अंगों के समान परस्पर निर्भर हैं और जिस में सभी अपना अपना अधिकार तो रखते हैं किन्तु केवल इस लिये ही कि वह मानवता की सम्मिलित सेवा में अपना अपना विशेष कर्तव्य सुचारु रूप से पालन कर पाएं और जिस के भीतर हार्दिक तथा उत्सर्ग पूर्ण सहकारिता का भाव पुरानी स्वार्थपरता का स्थान ले लेता है। मानव जगत् में ऐसी समानता का क्रमशः विकास हो रहा है और

जिस प्रकार लाखा के भीतर एक कीट प्रस्तुत हुआ करता है. इसी प्रकार पाशविकता के शरीर के अन्तर् मानवता का जन्म हो रहा है, अर्थात् असंख्य बाधाओं, विघ्नों के होते हुए भी एक दिव्य जीवन उदय हो रहा है।

भला समाज में अनेक सन्तों, ऋषियों, फकीरों, शहीदों तथा सुधारकों का जन्म लेना क्या बतलाता है? तथा नए से नए धर्मसमाज, शैक्षणिक आन्दोलन, उपकारी संस्थाएं, सामाजिक नियम, शिशु-रक्षण, बेकारी तथा बीमारी को दूर करने के विचार क्या प्रकट करते हैं?

यही कि अपूर्ण समाज में से एक पूर्ण समाज का जन्म हो रहा है। वास्तविकता के पेट से अभूतपूर्व तथा सम्भाव्य समाज जन्म ले रही है। इन सभी रूपों में से एक अलक्षित जीवन प्रकट हो रहा है। यह सभी उमंगें विशेष व्यक्तियों व जातियों से सम्बन्ध रखने के स्थान में उस आन्तरिक जीवन से सम्बन्धित हैं जो इस पृथिवी पर अपने अन्तिम नाटक की तैय्यारी कर रही है। जीवन भी एक अत्यन्त रहस्यमय सत्ता है, जो कि नरक की भट्टी में स्वर्ग-निर्माण हो रहा है और अन्धकारमय गर्भाशय से एक दिव्य बालक की उत्पत्ति हो रही है। तत्त्व दर्शियों ने कभी मानव भूमि में जो सर्वात्मैक्य का बीजवपन किया था, वह अंकुरित होने को है और जिस का पूर्ण विकास होने पर यही संसार नरक से स्वर्ग, कुरूप से रम्य, भयावह से चित्ताकर्षक, प्रदेश से स्वदेश, चलती सराय से निज घर, अनात्मा से आत्मा तथा माया से ब्रह्म हो जाएगा।

समाज को अन्ततः जो कुछ होना है, वह अभी तक हो नहीं पाया, इस में असंख्य खराबियां मौजूद हैं। यथा मिथ्या

गर्व, स्वार्थपरता, कापुरुषता, विश्वासहीनता, आनुष्ठानिक धर्म, लोभ, ईर्ष्या, दासता, अत्याचार, शोषण, अन्धानुसरण औरों पर अपनी प्रधानता जतलाने वाला परोपकार, अनियम, प्रभुत्व, वैर, संघर्ष, संग्राम प्रत्येक समाज में पाए जाते हैं।

किन्तु यह परिवर्तन व्यक्ति द्वारा होगा। समाज स्वयं स्थिति-शील होता है, भीतर से ही बाहिर की अर्थ पूर्ण परिणति सम्भव होगी। प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा समग्र के साथ एक है और यद्यपि विचित्रता वस्तुतः विद्यमान तथा सार्थक है किन्तु भीतर कहीं भी विच्छेद नहीं है और जिस प्रकार भौतिक जगत् में प्रत्येक परमाणु दूरवर्ती ब्राह्मण्डों के साथ अटूट सम्बन्ध रखता है, इसी प्रकार भौतिक तथा अध्यात्म जगत् में भेद तो है किन्तु विच्छेद कहीं और कभी नहीं। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का सम्बन्धी है। सभी जातियां परस्पर जैव सम्बन्ध रखती हैं तथा सर्वोदय के निमित्त इन की सहकारिता में ही जीवन का स्वास्थ्य, सौन्दर्य तथा आनन्द है।

यही आत्मैक्य अनुभूति ही सर्व धर्मों की नींव तथा मानव जीवन का केन्द्रीय तत्व है। लोकतन्त्र कोई एक कल्पना व भावी लक्ष्य होने के स्थान में एक आन्तरिक भाव व अनुभूति है। किसी एक सम्प्रदाय के सदस्य होकर हम एक दूसरे के बन्धु नहीं हो पाते, अपितु जब कि हमारे बीच में प्रेम तथा एकत्व के भाव पाए जाएँ। मानव बन्धुता किसी एक मान्यता का नाम होने के स्थान में एक आत्मानुभूति है, वास्तविक जीवन है।

लोकतन्त्र की कसौटी सर्वोदय के लिये सहकारिता है, केवल एक दूसरे को भाई भाई कह कर गले लगाना नहीं, बल्कि स्वार्थ भाव के स्थान में प्रेम (ऐक्य) भाव को लाना है। इस में स्वाधिकार के स्थान में कर्तव्य-पालन पर बल दिया जाता है और सभी सद्गुणों पर मानवान्तरात्मा है जो सब में

एक है और प्रबल होती है, और जब तक यह अन्तरात्मा न जागे, वाह्य लोकतन्त्र कागज़ी फूलों के समान निर्जीव ही होगा। जीवन की सभी क्रियाओं का स्रोत हमारे भीतर है और जब अन्दर परिवर्तन होगा, तो बाहर भी हो कर रहेगा।

अब यह भीतरी परिवर्तन आता प्रतीत होने लगा है। पश्चिमी राष्ट्रों में लोकतन्त्र, समानता, स्वातन्त्र्य, बन्धुत्व की बहुत चर्चा चली आती है, किन्तु गत महायुद्धों ने इस चर्चा का बोदापन सिद्ध कर दिया था। अब मानव जाति की आँखें खुलने लगी हैं और अब हम अन्तर्राष्ट्रीय युग में प्रवेश कर रहे हैं। आणविक शक्ति हमें चुनौती दे रही है कि बदलो या भस्मीभूत हो जाओ। मानव जागृति में एक बड़ी बाधा चली आई है कि मानव को जगाने के स्थान में, ईश्वरीय आज्ञाओं का ढण्डोरा पीटा गया है। मानवगरिमा की अव-हेलना होती रही है और मानव को उसके पदों पर खड़ा करके अपना तथा पृथिवी का भाग्य-निर्म्माता होने की पदवी नहीं दी गयी। जब तक मानव किसी उच्चतर सत्ता का दास माना जाता है, तब तक वह अपरिपक्व रहता हुआ लोक तन्त्र के योग्य ही नहीं हो पाता।

लोक-तन्त्र की नींव इस विश्वास पर है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वरूप में स्वयं आत्मा (ब्रह्म) है, जिससे ऊपर वा परे कुछ नहीं, वह आप ही 'ज्योतिषां ज्योतिः' है और असीम शक्यता रखता हुआ अपना तथा विश्व का प्रभु हो कर अपना तथा सृष्टि का पुनः निर्माण कर सकता है और इस लिये अपनी स्थिति तथा परिस्थिति के लिये स्वयं उत्तरदायी है। उसने यहां किसी की आराधना वा किसी से प्रार्थना के लिये जन्म नहीं लिया। उसका अपना आप साध्य है, किसी और का साधन

तथा यन्त्र होने के लिये नहीं। यह जागृति आत्मज्ञान से ही आ सकती है, किन्तु अमूर्त्त (abstract) आत्मा के प्रचलित ज्ञान से कभी नहीं। यथार्थ आत्मज्ञान वही है जिस में आत्मा तथा देह, इन्द्रिय मन आदि संघात में प्रभेद किया जाए, किन्तु विच्छेद कभी नहीं। मानव एक अखण्ड सत्ता है जिस में द्रष्टा-दृश्य, चेतन-जड़, क्षर-अक्षर, नश्वर-अनश्वर, नित्य-अनित्य, अविच्छेद्य रूप से एक हो रहे हैं। इन द्वन्द्वों के मिलन में ही जीवन है, विच्छेद में कभी नहीं।

अब हमारा प्राकृतिक ज्ञान अपनी भूतपूर्व प्रगति के कारण ऐसे रंगमंच पर आ पहुंचा है कि यदि यह आत्म ज्ञान को न अपनाए, तो अपने जन्मदाता के संहार का हेतु सिद्ध होगा, क्योंकि भौतिक उन्नति के फलस्वरूप सृष्टि सुकड़ती जा रही है। देश-काल का अन्तर मिट रहा है और मानव शक्ति भयंकर हो चली है और युद्ध की एक चिंगारी ही सर्वनाश कर सकती है। अब हमें उस ज्ञान की आवश्यकता है जो विश्व के हार्दिक एकीकारण का हेतु हो सके।

यह काम केवल आत्मज्ञान ही कर सकता हैं, क्योंकि आत्मा में सभी एक हैं। सभी एक विश्व देह के अंग तथा एक ही आलोक के रंग है। सब की भलाई में हर एक की भलाई है, किसी की बुराई में सभी की बुराई है।

और कोई भी बाह्य शक्ति एकीकरण नहीं कर सकती है। जो अन्तरतम है वही एक दिन बाह्यतम हो कर रहेगा। बाह्य विचित्रता आन्तरिक एकता के सूत्र में परोई जा कर अत्यन्त सुन्दर रूप धारण करती हुई इसी दुःखमय संसार को परम तथा नित्य नूतन स्वर्ग में बदलती चली जाएगी। अतः, विज्ञान तथा आत्मज्ञान का समन्वय ही संसार को नष्ट होने से बचा सकेगा—'**नान्यः पन्था विद्यते**'

१८. ज्ञान तथा प्रेम का समन्वय

जिस प्रकार भौतिक जगत् में जीवन के विकास के निमित्त आलोक तथा उष्णता का होना आवश्यक है, केवल आलोक वा केवल उष्णता विकास नहीं ला सकते। इसी प्रकार मानव जगत् में आनन्द की प्राप्ति के लिये ज्ञान तथा प्रेम का सन्तुलित रूप में पाया जाना अनिवार्य है। केवल ज्ञान वा केवल प्रेम पर्याप्त नहीं है।

ज्ञान प्रेम के बिना निर्जीव होता है और ज्ञानविहीन प्रेम अन्धा रहता है। नेत्रहीन चेहरा क्या होगा और बिना चेहरे के नेत्र कहां होंगे? ऐसा ही पारस्परिक सम्बन्ध हृदय और फेफड़ों में पाया जाता है।

मानव के आत्मविद् जीवन में हृदय तथा मस्तिष्क का सामञ्जस्य आवश्यक है, अन्यथा जीवन पुष्प न खिलेगा।

प्रेम द्वारा ही ज्ञान का आविर्भाव सम्भव होता है, क्योंकि जो वस्तु प्रिय होती है, उसी पर मन केन्द्रित होकर ज्ञानवृद्धि का कारण होता है। अतः, प्रेम ज्ञान का उत्पादक है। वह किसी भी वस्तु व सत्ता के साथ उस के ध्यान में आनन्द-दायक होने से ज्ञानवृद्धि का हेतु होता है।

किन्तु यह वात भी सम्भव है कि ज्ञान अपने मूल स्रोत को भूल कर अपना स्वास्थ्य खो बैठे। और यह घटना तभी घटती है जब हम ज्ञान को ज्ञान के लिये चाहने के स्थान में स्वयं ज्ञान में खुशी न पाकर इस से लाभ ढूंडने लगते हैं। लाभ

चाहना भी तब तक बुरी बात नहीं है जब तक कि ज्ञान केवल लाभ का साधन मात्र न हो जाए।

यदि आधुनिक काल में विज्ञान की प्रबलताओं पर दृष्टि-पात किया जाए तो देखा जाएगा, कि मानव विज्ञान द्वारा प्रकृति पर प्रभुत्व प्राप्त करना चाहता है और क्षमताभिलाषा ने प्रेम का स्थान ले लिया है। अब हम प्रकृति में मातृत्व व इसके सौन्दर्य की प्रशंसा के स्थान में इसकी कांट-छांट करना चाहते हैं। प्रकृति को योग के स्थान में भोग की सामग्री समझा जा रहा है और उसके साथ हमारा सर्वाङ्गीन सम्बन्ध समाप्त होता प्रतीत होता है।

इस तत्त्व को समझना कुछ कठिन नहीं है कि किसी वस्तु से प्रेम तथा उस पर चिन्तन द्वारा वर्तमान में आनन्द प्राप्त होता है। किन्तु किसी वस्तु के ज्ञान द्वारा शक्ति पाकर हम सन्तुष्ट नही रह सकते। क्षमताभिलाषी कितनी ही प्रगति करे, वह अपनी शक्ति लगातार बढ़ाना चाहता है। प्रेम द्वारा तो हम वर्तमान में आनन्द पा सकते हैं, किन्तु शक्ति की लालसा उत्तरोत्तर वर्द्धित होती हुई हमें कहीं और कभी चैन नहीं लेने देती, एवं नित्य प्रसन्न रहने के स्थान में हम भविष्य में ही आनन्द प्राप्ति की आशा तो रखते हैं, किन्तु उसे छू नहीं सकते।

कौन नहीं जानता कि अब विज्ञान की विस्मयजनक प्रगति से मानव शक्ति में अपरिमित वृद्धि हो गई है, किन्तु इस पर भी संसार में शान्ति, तुष्टि तथा आनन्द उत्तरोत्तर दुर्लभ होते चले जा रहे हैं। विद्या, क्षमता तथा प्राचुर्य संसार की वास्तविक दशा में कोई सुधार कर नहीं पाए।

इस व्यापक असफलता का कारण यही है कि ज्ञान को

प्रेम वृद्धि का साधन बनाने के स्थान में क्षमतावृद्धि का साधन बनाया जा रहा है। जीवन पर हृदय के स्थान में मस्तिष्क प्रबल हो रहा है। दिन प्रतिदिन मस्तिष्क उन्नत और हृदय मृतप्राय होता जा रहा है।

वस्तुतः, यह आन्तरिक विरोध ही बाह्य संग्राम का हेतु हो रहा है और विगत महायुद्धों में जो अत्याचार हुए हैं वे मानव हृदय की मृत्यु की गवाही दे रहे हैं। हृदय तथा मस्तिष्क का विरोध न केवल आनन्द को नष्ट कर रहा है, प्रत्युत मानव सभ्यता का भी अन्त होता दिखाई देता है। मानव ने जो खजाने पृथिवी से लिए थे, वह अब फिर से पृथिवी की भेंट हो रहे हैं और जो मानव कभी कन्दराओं से बाहिर आया था, अब उन्हीं की ओर लौटता प्रतीत होता है।

अवश्य ही कहना पड़ता है कि वर्तमान ज्ञान अभूतपूर्व प्रगति करने पर भी कुछ अस्वस्थ-सा ही है और इसकी बीमारी का यही कारण है कि हम ने प्रेम का स्थान क्षमता को दे रखा है। क्षमता भी एक प्रकार का मादक ही तो है। क्षमता मानव को भ्रष्ट कर देती है और पूर्ण क्षमता उसको पूर्णतः भ्रष्ट करने का प्रभाव रखती है।

और यह एक निर्विवाद नियम है कि क्षमताभिलाषा की जड़ में सदा भय विद्यमान होता है, क्षमता की वृद्धि संसार में भय को बढ़ाती है और वर्द्धमानभय क्षमताभिलाषा को उत्तरोत्तर भड़काता चला जाता है और इसके फलस्वरूप ज्ञान अपने मूल से दूर से दूरतर होने की प्रवणता रखता है। वर्तमान सभ्यता क्षमता पर संस्थापित होने के कारण ही वह

आनन्द लुप्त हो रहा है जिसका घर वर्तमान काल में है, अतीत व भविष्य में कभी नहीं।

जिस एकता को प्रेमविहीन ज्ञान द्वारा अनुभव किया जाए, वह केवल बौद्धिक तथा ऊपर की होती है, यथा द्रव्य व शक्ति का एकत्व। किन्तु जिस एकत्त्व का अनुभव प्रेम से होता है, वही गम्भीर तथा सजीव एकत्त्व है। केवल जानने में तो ज्ञाता-ज्ञेय का अन्तर बना रहता है, किन्तु जब इसके साथ प्रेम की उपस्थिति में यह भेद नहीं रह जाता, तब ज्ञाता ज्ञेय में निमग्न होकर अपरिमेय आनन्द तथा "शाश्वती शान्ति" पाता है। ज्ञान तथा प्रेम का समन्वय होने पर ही तत्त्वज्ञान होता है। प्रेम के बिना तो आत्मज्ञान भी केवल बौद्धिक परिश्रम होने से अमूर्त (Abstract) ज्ञान होता है। अपना यथार्थ स्वरूप युगपत् ज्ञान तथा प्रेम है और सम्यक्दर्शन है, जिसके सत्ता-केन्द्र से सोते, जागते, उठते, बैठते प्रतिक्षण सभी ओर प्रेम-धाराएँ बहा करें।

निस्संदेह हमें प्राकृतिक पदार्थों का प्रयोग करना होगा तथा इनके प्रयोग के लिए विज्ञान भी चाहिए। किन्तु यह प्रयोग आवश्यकतानुसार ही करना होगा। अथ च हमें इन पदार्थों को अपने भीतर मूल्य प्रदान भी करना होगा। क्योंकि यही हमारा काम है, केवल चिन्तन ही नहीं। मूल्य-ज्ञान तथा मूल्य-प्रदान में ही मानव जीवन की परम सफलता तथा आनन्द है और आनन्द ही तो जीवन-स्वास्थ्य का द्योतक है। इस आनन्द को बाह्य पदार्थों में पाने की आशा व्यर्थ है, क्योंकि इसकी तलाश ही इससे दूर ले जाती है।

अतः, यदि हम संसार को भद्रतर तथा प्रसन्नतर बनाने का उद्देश्य रखते हों, तो ज्ञान को उपार्जन, क्षमता तथा शासन के स्थान में प्रेम तथा सेवा के निमित्त होना उचित है। पदार्थ-ज्ञान शक्ति है और शक्ति एक जीवन यन्त्र है, उद्देश्य नहीं। जीवन तो प्रेम तथा आत्मदान से सार्थक होता है और अर्थ (Significance) के बिना मानव जीवन में कोई आनन्द नहीं है। हमें अपनी सभ्यता की दशा बदल कर इसे प्रेम तथा ज्ञान के सन्तुलन पर संस्थापित करना होगा। अन्यथा किसी भी दर्जे का ज्ञान व क्षमता हमें सर्वनाश से बचा न सकेंगे और न ही जीवन कभी स्थायी रूप से आनन्दमय हो पाएगा।

ज्ञान तथा प्रेम के समन्वय में ही जीवन की पूर्णता है और यह समन्वय अन्तरात्मा के एकत्व पर आधारित होकर ही संसार को नवजन्म दे सकता है। यहां हमारा जन्म केवल इसलिए हुआ है कि हम आत्मज्ञान तथा सन्तुलित जीवन द्वारा इसी भूलोक को परम स्वर्ग में रूपान्तरित कर पाएँ।

मानव जीवन के पथ-प्रदर्शन के लिए दर्शन अपेक्षित है, क्योंकि यह स्वज्ञान तथा दायित्व का जीवन है। यह एकत्व दर्शन ही है जो मानव को व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप में भद्रतर तथा प्रसन्नतर बना सकेगा। सर्वात्मैक्य से अधिकतर कोई भी उच्चतर सत्य नहीं है। अध्यात्म ऐक्य की ज्योति में अनन्त विचित्रता परम सौन्दर्य का रूप धारण कर लेती है और असीम देशकालव्यापी परिवर्तन तथा घटनाएँ आनन्द-प्रद संगीत बन जाती हैं और वसुधा पर जीवन-पुष्प अपनी सभी पंखड़ुयों में प्रफुल्लित होता हुआ वह फल लाता है,

जिसके उत्पादन में सभी जगत् की शक्तियां अनादि काल से व्यस्त चली आई हैं, किन्तु एकत्व दर्शन के आलोक में ही यह फल अपनी परिपक्वता लाभ कर सकता है।

एकत्व दर्शन ही यथार्थ तथा पूर्ण ज्ञान है और यही ज्ञान ही मानव हृदय में संचरित होकर व्यापक तथा क्रियात्मक प्रेमरूप में अभिव्यक्त होता है। ज्ञान प्रेम से उदय और फिर प्रेम में ही विलीन होकर आनन्द में रूपान्तरित हो जाता है।

---

१६. एक महाभ्रम

धर्मजगत में एक अत्यन्त विषैला शब्द 'नास्तिक' है। नास्तिक को केवल घृण्य तथा परम निन्दनीय ही नहीं, प्रत्युत कई धर्मसम्प्रदायों में तो नास्तिक को मौत के घाट उतार देना स्वर्ग का पासपोर्ट निश्चय किया जाता है। इसके अतिरिक्त कई कट्टरपंथी तो तथाकथित नास्तिक व्यक्ति को बिच्छू, सर्प तथा सांक्रामिक महामारी से भी अधिकतर परिहार्य निश्चय करते हैं। एक प्रसिद्ध वली साहिब के बारे में लिखा है, कि जब वह कहीं बाहिर जाते तो आँखों पर पट्टी बांध कर चलते थे, इस डर से कि कहीं किसी नास्तिक व्यक्ति पर दृष्टिपात न होने पाए और जब उनसे ऐसी घृणा का कारण पूछा गया, तो उन्होंने उत्तर दिया कि उन्हें अपने लिए तो किसी भी मानव से रञ्चक मात्र भी घृणा व द्वेष न तो है और न कभी हो सकता है, क्योंकि सभी खुदा की मख्लूक (रचना) हैं, किन्तु नास्तिक तो खुदा का वैरी होता है, क्योंकि वह उसके प्रत्यादेशिता (नबी) तथा 'प्रत्यादेश' (इलहाम) में आस्था नहीं रखता। मुझे अपने लिए नहीं, बल्कि दोजहां के मालिक की खातिर यह वैर है। एक दिन वली साहिब आँखों पर पट्टी बांधना भूल कर बाहिर निकले, तो कुछ दूरी पर बेहोश होकर गिर पड़े और कुछ देर के बाद होश आने पर बतलाया कि एक काफिर (नास्तिक) पर दृष्टि पड़ने पर ऐसा हुआ।

नास्तिक से इतनी घृणा तथा वैर के समर्थन में यह कहा जाता है, कि धर्म का सार ईश्वर से प्रीति, उसके आगे अभिवादन तथा समर्पण है। इसलिए आस्तिक व ईश्वरभक्त, ईश्वर

तथा उसके दूत तथा प्रत्यादेश की अवहेलना सहन नहीं कर सकता।

प्राच्य तथा पाश्चात्त्य इतिहास उन अत्याचारों के रक्त से रंगे हुए हैं जो ईश्वर तथा धर्मग्रन्थों के समर्थन में उन लोगों पर किए गए हैं जो ईश्वर की धारणा तथा उसकी आज्ञाओं में विश्वास न रखते थे। नास्तिकों व काफिरों को भयंकर, रोमांचकारी तथा दीर्घकालीन यन्त्रणाओं से तड़पा-तड़पा कर मारते समय हत्यारे लोग विद्वेष-पूर्ण सन्तोष अनुभव करते थे कि वह जो कुछ भी कर रहे हैं, ईश्वर तथा धर्म की सेवा के लिए ही कर रहे हैं।

ईश्वर तथा उसके शासन के समर्थन तथा सेवा के नाम पर वह पुरातन विद्वेष और वैर भाव आज भी मानवता के शरीर में विषैले रक्त के समान विद्यमान है। अब वैज्ञानिक युग में भी नास्तिक तथा काफिर के नाम सुनने में आते हैं और ये शब्द ही प्राचीन सभ्यता के अभिमानियों के मध्य में भी लड़ाई-भिड़ाई तथा रक्तपात के हेतु हो जाते हैं।

एक आश्चर्य तथा हास्यकारी बात तो यह है कि प्रत्येक धर्म सम्प्रदाय अपने अनुयायियों को आस्तिक तथा अपने प्रतिपक्षियों को नास्तिक पुकारा करता है। यह विभिन्न सम्प्रदाय एक दूसरे के सिद्धान्तों के खण्डन और अपने सिद्धान्तों के मण्डन में व्यस्त रहते हैं। यह ऐसी ही एक घटना है कि किसी एक व्यक्ति के पक्ष में अनेक गवाह खड़े होकर परस्पर खण्डन करने लगें। जब विभिन्न सम्प्रदाय एक दूसरे का खण्डन करें तो धर्म का ही खण्डन होने से धर्म की मर्यादा घटेगी और यही कारण है कि धर्म का प्रभाव क्रमागत घटता चला जा रहा है। किन्तु यह

घटना एक उज्ज्वल पक्ष भी रखती है और वह यह है कि साम्प्रदायिक कट्टरपन भी प्रतिदिन कम हो रहा है और अब वह पहला मतोन्माद नहीं रहा। इस से आशा होती है कि अन्त में सर्वसाधारण भिन्न-भिन्न तंग तथा अन्धेरी कोठड़ियों से बाहिर आकर व्यापक तथा शाश्वत सत्य के आलोक में सम्मिलित होकर सर्वोदय के निमित्त जीना सीख पाएंगे।

सत्य सत्य का विरोधी नहीं होता। विभिन्न प्रकार के रंग एक दूसरे को चमकाया करते हैं। विरोध तो केवल संकीर्ण मान्यताओं में ही होता है।

सत्य सदा और सर्वत्र एक ही है और यही तो मानवमात्र की मिलन भूमि है। सभी ईश्वरवादी भी ईश्वर को एक मानते हैं, किन्तु उसके विषय में धारणाएं तथा धर्मशास्त्र अनेक हैं। इन धारणाओं तथा ग्रन्थों के आधार पर ही समान धर्मियों को आस्तिक और दूसरों को नास्तिक का नाम दिया जाता है और जिस प्रकार किसी एक दीपक के आलोक के तले सभी लोगों का एकत्रित होना संभव नहीं है, इसी प्रकार किसी मत की पताका के तले सभी का मिलन असम्भव है। मत का स्वभाव ही भिन्न-भिन्न शाखाओं के होते हुए विभाजन को क्रमागत बढ़ाना है।

वर्तमान युग में, जो कि वैज्ञानिक है, एक विलक्षणता यह है कि यह जानने का युग है, बिना साक्ष्य मानने का नहीं। जानने की नित्य विस्तार शील भूमि पर ही विश्वैक्य की आशा की जा सकती है। जानने से जो मिलन होता है, वह सदा भीतर से होता है। मत सुलाते तथा भड़काते हैं किन्तु कभी जगाते नहीं।

धर्म सम्प्रदाय वालों की सर्वोच्च शिक्षा यही है कि सभी मानव एक परम पिता की सन्तान होने से परस्पर भ्राता भगिनी का सम्बन्ध रखते हैं। किन्तु व्यापक सत्य लोगों को किसी एक झण्डे तले एकत्रित करने वा एक जगन्माता की गोदी में बिठाने के स्थान में इन सब को व्यापक तथा शाश्वत सत्य बतला कर इन में ऐन्द्रिक (onganic) सम्बन्ध की स्थापना करता है।

आध्यात्मिक वा मानव मूल्यों में विश्वास तथा उनका अनुसरण ही प्राकृत मानव धर्म है। "सत्यं शिवं, सुन्दरम्" के लिये जीना ही धर्म जीवन है और समस्त मानवता का यही लक्ष्य है। इस में विरोध के लिये स्थान ही नहीं है। इन मूल्यों के अनुसरण में आस्तिकता एवं नास्तिकता का प्रश्न ही नहीं उठता। सभी लोग सत्य के लिये विस्मय (आश्चर्य) का भाव रखते हैं। सत्य सर्व देश, सर्वकाल में सब के लिये है, इस में हिन्दू-मुस्लिम, पूर्व तथा पश्चिम का प्रभेद ही कहां है? सत्य की जय अटल है और सत्य के सामने, अन्ततः, हर एक का सिर झुक जाता है। सभी धर्म सम्प्रदाय सत्य की दुहाई दिया करते हैं। सत्य की खोज तथा प्राप्ति में ही परम आनन्द है। सत्य ही बन्धन काट कर भय से विमुक्त करता है। सत्य स्वयं ईश्वर है। ईश्वर को सत् मान कर ही उस की पूजा की जाती है, सत्य से परे कोई धर्म नहीं और सत्य से ऊपर कोई ईश्वर भी नहीं है।

सत्य के समान ही भलाई (नेकी) में सभी का मिलाप है। सभी धर्म-सम्प्रदाय भलाई का ही दावा करते हैं, प्रत्येक हृदय भलाई वा भले के लिए श्रद्धा रखता है। ईश्वर के विषय में धारणाभेद चाहे कितने ही हों, ईश्वर को सभी

मानते हैं। शैतान का कोई सम्मान नहीं करता। भलाई से आत्म-प्रसाद प्राप्त होता है और परस्पर एकता में वृद्धि होती है। बुराई में कभी स्थायी ऐक्य नहीं होता। भलाई ही यथार्थ ईश्वर है। सौन्दर्य किस को प्रिय नहीं लगता? सभी लोग सौन्दर्य चाहते हैं। सौन्दर्य की अनुभूति सब भेद-भाव भुला देती है। सभी धर्म सम्प्रदाय अपने-अपने पूज्य देव को परम सुन्दर बतलाते हैं। सौन्दर्य में जातिभेद नहीं रहता। संगीत, फूल, सूर्योदय, तारामण्डल, पूर्णिमा, इन्द्रधनुष किसे प्यारे नहीं लगते? **सौन्दर्य ही सभी का परम इष्टदेव है।**

आस्तिक नास्तिक का प्रश्न उसी दिल में उठता है जिस की आंखों पर किसी विशेष मत का रंगीन चश्मा चढ़ा हो। **सच्चाई, भलाई** तथा **सुन्दरता** की दृष्टि से तो कोई विरला ही नास्तिक होगा। जो सत्य के लिये विस्मय, भलाई के लिये सत्कार तथा सौन्दर्य के लिये श्लाघा का भाव न रखता हो। वही तो जीवन की परिभाषा में नास्तिक है—जिसे सत्-असत्, भलाई-बुराई, सुन्दरता-कुरूपता की कुछ परवाह नहीं होती।

जीवन-परिभाषा में आस्तिक वही है जिसे अपने अस्तित्व, मानवता तथा मानव मूल्यों में आस्था है, जिसे आत्म-विश्वास है, अर्थात् जो अपनी बुद्धि में विश्वास रखता हुआ स्वयं सत्य-असत्य के निर्णय का साहस रखता है। जो अपने इन्द्रिय में विश्वास रखता हुआ जगत् तथा जीवन को भ्रममात्र नहीं जानता। जो सृष्टि नियमों पर पूरा भरोसा कर पाता है। संक्षेपतः, अस्तित्व व जीवनार्थ में अविश्वास ही संसार में एकमात्र अविद्या-जनित तथा घृण्य नास्तिक्य है। किसी सम्प्रदाय से मत-भेद का नाम नास्तिक्य नहीं है। जो

अपने में विश्वासहीन है वह ईश्वरवादी होता हुआ भी नास्तिक है।

जिस प्रकार अनन्त आकाश में ऊंच-नीच के शब्द कोई अर्थ नहीं रखते, तथा जिस प्रकार सूर्य में धूप-छाया का भेद नहीं मिलता, इसी प्रकार मानव अथवा जीवनधर्म में आस्तिक्य व नास्तिक्य निराधार भ्रम है।

मानव मात्र में ही आध्यात्मिक अभिलाषाएं, सत्यता, भलाई तथा सुन्दरता के इन्द्रिय पाए जाते हैं। ईश्वर के विषय में अनेक प्रकार की धारणाएं हैं। धर्मग्रंथ अनेक हैं, धर्म-अनुष्ठान भी विभिन्न प्रकार के हैं, किन्तु सत्य से कौन इन्कार कर सकता है? वस्तुतः **प्रत्येक स्वस्थ मानव आस्तिक** है। केवल साम्प्रदायिक लोगों ने ही यह अत्यन्त हानिकारक भ्रमजाल फैला रखा है।

अब जागने का समय है। किसी विगत सतयुग के फिर से लौटने की आशा छोड़ दो। हमें स्वयं वह नवयुग लाना तथा वह स्वर्ग-निर्माण करना होगा जो अभी हमारी कल्पना से भी परे है। हमें अपना भविष्य आप ही निर्माण करना होगा। अतीत से सीख तो लो, किन्तु उस का अन्धानुकरण मत करो, किसी व्यक्ति के उपग्रह न बनो। अपने दीपक व सूर्य आप हो जाओ। यदि कोई परमात्मा है तो वह अन्तरात्मा ही है। और कोई नहीं, जिसे और समझ रहे हो—वह तुम्हारी अपनी शक्यता का प्रक्षेपण ही तो है। प्राचीन ऋषियों ने "अयमात्मा ब्रह्म" (यही आत्मा ही ब्रह्म है) का अमर उपदेश दिया है, और जब आत्मा ही परमात्मा है तो नास्तिक वही है जो अपने

आप में विश्वास नहीं रखता। जो निज आत्मा में आस्था रखता है वह किसी भी धर्म-सम्प्रदाय का अनुसरण न करता हुआ भी आस्तिक ही है।

अतः, साम्प्रदायिक मत के आधार पर किसी को आस्तिक व नास्तिक कहना सर्वथा अनुचित है। इसी महा भ्रम ने ही अब तक संसार में सर्वैक्य की स्थापना को अब तक रोक रखा है। विश्व कल्याण के लिये इस पुराने हठीले भ्रम का मूलोत्पाटन अत्यावश्यक करना ही होगा।

---

२०. सब से बड़ी सच्चाई

विद्या का कहीं भी अन्त नहीं और विद्या भी एक नहीं, अनेक विद्याएं हैं तथा प्रत्येक विद्या अन्तहीन है। सच्चाईयां अनन्त हैं। संसार प्रवाह रूप है, न इस का आदि है और न अन्त।

किन्तु सच्चाइयों की सच्चाई, सब से बड़ी सच्चाई यही है। कि **सर्व एक और सदा वही का वही है,** ऐसा एक, जो अनेक रूप है और ऐसा नित्य, जो सदैव बदल रहा है। केवल परिवर्तनशील अनेकता का जानना अधूरा ज्ञान है और केवल एक और नित्य को जान लेना भी सम्यग् ज्ञान नहीं है।

सत्ता के दो पक्ष हैं, (१) व्याप्ति (२) समाप्ति। व्याप्ति देश-काल-गत है और समाप्ति देश-कालातीत है। व्याप्ति के पक्ष पर सभी कुछ खण्डित, आंशिक अल्प तथा मर्त्य है, किन्तु समाप्ति के पक्ष पर अखण्ड, भूमा तथा अमृत है।

इन्द्रिय तथा अन्तःकरण द्वारा अनेक तथा परिवर्तनशील का ही ज्ञान होता है। एक तथा समग्र का नहीं, किन्तु आत्मा अपने आप से ही जाना जाता है किसी यन्त्र द्वारा नही। आत्मा स्वप्रकाश है और सभी कुछ परप्रकाश है।

आत्म-ज्ञान पारमार्थिक ज्ञान है जिस से परे कोई ज्ञान नहीं। यहां ज्ञान की समाप्ति है। किन्तु व्याप्ति के पक्ष पर व्यावहारिक ज्ञान है जो कहीं और कभी खत्म होने का नहीं।

जीवन की सफलता विज्ञान तथा तत्त्वज्ञान के समन्वय में

है, विश्लेपण में नहीं । मानव तीन प्रकार की दृष्टि रख सकता है ।

(क) केवल भेद-दृष्टि—जिस से वह देश में नानात्व और काल में परिवर्तन देखा करता है । पशु केवल भेद-दृष्टि ही रखता है ।

(ख) केवल अभेद दृष्टि—जिस से आत्म-अनुभूति होती है । जगत् प्रतीत ही नही होता ।

(ग) भेदाभेद-दृष्टि—जो एक में अनेक और अनेक में एक, ब्रह्म में जगत् तथा जगत् में ब्रह्म दिखाती है, यही सम्यक् दर्शन है । केवल भेद-दर्शी अन्ध, केवल अभेद-दर्शी एकाक्षी और भेदाभेद-दर्शी सम्यक्-दर्शी तथा यथार्थ ज्ञानी होता है ।

सम्यक् दर्शन के बिना जीवन अधूरा ही रहने से पूर्णानन्द की प्राप्ति नही हो पाती ।

केवल भेद-दृष्टि में द्वैत भ्रम तथा भय बना रहता है, विक्षेप दूर हो कर शान्ति प्राप्त नहीं होती । हां विज्ञान द्वारा शक्ति प्राप्त हो सकती है, किन्तु वह भय का समूल नाश नहीं कर पाती ।

केवल अभेद दृष्टि शान्ति तथा मत्तता तो देती है, किन्तु जीवन्त आनन्द तथा सफलता कभी नहीं ।

किन्तु भेदाभेद दृष्टि पाकर जीव ब्रह्म, अंश ही समग्र, मर्त्य ही अमृत, क्षणिक ही नित्य होता है, हो जाता नहीं । तब ही वह साक्षात् देख लेता है कि—

> पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
> पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ (ईशोपनिषद्)

वह (ब्रह्म) सब प्रकार से पूर्ण है, यह (जगत् भी उस से) पूर्ण है। (उस) पूर्ण (से ही यह) पूर्ण उत्पन्न हुआ है। पूर्ण की पूर्णता को निकाल लेने पर (भी वह) पूर्ण ही बच रहता है।

पूर्ण वही है जिस के सिवा और कुछ सम्भव ही नहीं। पूर्ण अवश्य ही एक तथा सर्व है। अपने अन्तर का एक जान लेने पर विश्व जगत् भी 'पिण्डं एकं अखण्डितम्' दीख पड़ता है। ब्रह्म तथा जगत्, मानव तथा ब्रह्म, जीव तथा ईश्वर, पुरुष तथा प्रकृति, द्रष्टा तथा दृश्य, चेतन तथा जड़ दो स्वतन्त्र सत्ताएं होने के स्थान में एक ही सत्ता के पक्ष हैं। यह मौलिक एकत्व ही जगत् में कई प्रकार से अभिव्यक्त हो रहा है। यथा समस्त संसार में द्रव्य वा शक्ति, जीवन, नियम, धर्म, विज्ञान, मानवता, सत्य, शिव, सुन्दर, निकट, दूर, अन्तर्, बाहिर एक है। संसार का बीज एक है, इस का फल भी एक (प्रकार का) है। वस्तुतः, हमारी जाति, देश, गृह भी एक ही है। चूँकि सब एक, अखण्ड, अविभाज्य समग्र है, इस लिए हमारा सुख दुःख, स्वास्थ्य, शान्ति, स्वातन्त्र्य, सफलता, अभ्युदय, उन्नति भी वस्तुतः तथा अन्ततः अविभाज्य है।

सर्वैक्य ज्योतिः अपने रासायनिक प्रभाव से पशु को मानव, संघर्ष को प्रेम, अनात्म को आत्म, अन्य को स्व, नरक को स्वर्ग, भूलोक को भी परमधाम में बदल सकती है।

---

२१. संक्षिप्त पुनरुक्ति

जीवन जीने के योग्य है। हम यहां जीने के लिए हैं। दण्ड भोगने नहीं आए। इसी लोक से हमारा जन्म हुआ है, अतः, यही हमारा स्वदेश व निज घर है। वर्तमान युग की आत्मा है एक व्यापक तथा सतत विस्तार शील विद्रोह, जो मानव के हृदय तथा मस्तिष्क में दिन प्रति दिन उठ रहा है। सैद्धान्तिक तथा आनुष्ठानिक धर्म से आस्था मिट रही है, क्योंकि प्रचलित धर्म अपनी प्रतिज्ञाएं पूरी कर नहीं पाए। अब हम स्वयं अपने बन्धन छिन्न-भिन्न कर, इसी पृथिवी पर स्वर्ग निर्माण करना तथा अपने भाग्य को अपने हाथ में लेना चाहते हैं। गरीबी, बीमारी, गुलामी, शोषण, अत्याचार हमें असह्य हो चुके हैं। मानव अपनी असीम शक्यता में जाग उठा है और अब वह अतीत के अन्धानुसरण को तैय्यार नहीं। हमें नित्य आगे बढ़ना होगा। जीवन का नियम विकास है और इस की अवहेलना व उल्लंघन विनाश है।

सम्प्रति मानवता का रुख एकीकरण की ओर है। विभिन्न राष्ट्र तथा धर्म सम्प्रदाय एक दूसरे को समझने लगे हैं। विज्ञान भी अन्तर्जातीय एकता के लिए हमें बाध्य करने लगा है। हमें अब बदलना या मिट जाना होगा।

किन्तु हमें एकता चाहिए, एकरूपता नहीं। जीवन का सार वैचित्र्य में ऐक्य है और इसी तत्त्व में ही जीवनानन्द का रहस्य निहित है। प्रकृत तथा जीवनप्रद ऐक्य बाहिर की वस्तु नहीं है, इसे अपने भीतर ही आत्मानुभूति द्वारा पाना होगा।

आत्मानुभूति का द्वार सभी पर खुला है। आत्मा किसी से दूर व बाहिर नहीं है और अपने भीतर झाँकने पर अनुभूत होता है। आत्मानुभूति से जीवन प्रभावशाली होकर स्वाव-

लम्बन तथा स्वसंयम का लाभ होता है। किन्तु आत्मज्ञान की आवश्यकता तो जागृति तथा विकास के लिए, मत्तता व लय के लिए कदापि नहीं।

पुरुष तथा प्रकृति विभिन्न सत्ताएँ होने के स्थान में एक ही सत्ता के दो पक्ष हैं। जगत् हमारा अपना विस्तार तथा चमत्कार है। प्रकृति के अर्थपूर्ण रूपान्तरण में ही आत्म-प्रकाश सम्भव है, प्रकृति से कट जाने में कदापि नहीं।

व्यक्ति तथा समाज भी एक ही जीवित पिण्ड के व्यष्टि-समष्टि रूप हैं। हम सब की अन्तरात्मा एक है। बाहिर भेद प्रतीत होता है किन्तु हमारा मूल, लक्ष्य, उद्देश्य एक है। समाज के साथ हमारा सम्बन्ध सहकारिता का है, प्रतियोगिता का नहीं। इस आणविक युग में विश्व-राज्य की स्थापना अनिवार्य है, अन्यथा समस्त सभ्यता भस्मीभूत हो जाएगी।

मानव तथा भगवान् वास्तव में दो सत्ताएँ नहीं हैं। मानव भगवान् का ही रूप है और भगवान् मानव का स्वरूप है।

मानव समाज एक पिण्ड है। सब का सब के साथ अविभाज्य सम्बन्ध है। भेद सर्वत्र है, किन्तु विच्छेद कहीं नहीं। हम यहां परलोक की तैयारी के स्थान में मानव नाटक करने के लिए हैं, परस्पर संग्राम के लिए नहीं। स्वार्थपरता ही विभाजन का हेतु है और इस का मूल कारण अज्ञान है। आत्म-ज्ञान होने पर दूसरों से परार्थ का भ्रम मिट जाता है। मानव अपने स्वरूप को जान कर ही यथार्थतः मानव होता है। इससे प्रथम पशु ही रहता है। "अहं, मम" खोने पर सभी कुछ ही "हम और हमारा" हो जाता है और तब ही हम स्वभावतः सर्वोदय के लिये जीना आरम्भ करते हैं"

धर्म एक है और मत अनेक। यदि धर्म का यथार्थ ज्ञान न हो तो मत विदारणकारी होते हैं। कोई भी विशेष मत

पूर्णतः सत्य नहीं कोई भी मत नितान्त असत्य नहीं है। सभी मत एक दूसरे के पूरक हैं, जीवित शरीर के विभिन्न अंगों के समान, मानव वा आध्यात्मिक धर्म इन सब की आत्मा है।

सर्वात्मैक्य लोकतन्त्र की अचल नींव है। आत्मा में ही हम सब की एकता तथा समानता है। मानव गरिमा तथा महत्त्व आत्मा में है। प्रत्येक व्यक्ति अपना साध्य है किसी का साधन होने के लिये नहीं है। जहां व्यक्ति को साधन बनाया जाए, वहां लोक-तन्त्र कागज़ी फूल के समान निर्जीव ही होता है, सजीव कभी नहीं।

ज्ञान और प्रेम के समन्वय में ही जीवन की सफलता है। प्रेमहीन ज्ञान निर्जीव होता है और ज्ञानहीन प्रेम अन्धा रहता है। और प्रेम तथा ज्ञान के सामञ्जस्य में ही जीवनानन्द है। प्रेम और ज्ञान का क्रियात्मक मिलन ही संसार को स्वर्गमय बना पाएगा, कोई शक्ति वा शासन कभी नहीं।

संसार में एक महाभ्रम आस्तिक्य तथा नास्तिक्य का है। वस्तुतः, कोई नास्तिक नहीं। सभी लोग अपने अस्तित्व, अपने इन्द्रिय—अन्तः कारण, अपनी शक्यता सृष्टिनियम, मानवमूल्यों में विश्वास रखते हैं। संकीर्ण धर्मसम्प्रदाय ही इस विभाजनकारी महाभ्रम के प्रचारक हैं।

सच्चाइयां अनेक हैं किन्तु सच्चाइयों की सच्चाई यही है कि समस्त विश्व एक अखण्ड जीवन्त सत्ता है। सर्व एक और सदा वही का वही है। केवल भेद दृष्टि अन्धापन है। केवल अभेद देखने वाला भी एकाक्षी होता है। सम्यक् दर्शन यह है। कि भेद में अभेद और एक में अनेक दिखाई दे। सम्पूर्ण जगत ही ब्रह्म, और मानवमात्र में ही भगवान् दृष्टिगोचर हो। यह सर्व ही, तथा आत्मा ही ब्रह्म है। ब्रह्म अन्य वा बाहिर अथवा दूर नहीं, अपितु सब का अन्तरात्मा है।